त्रैमासिक

भाग-६५, अंक-२

अप्रैल-जून, २००४

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिन्दुस्तानी

(त्रैमासिक शोध एवं सृजन पत्रिका)

भाग - ६५ | अप्रैल - जून

अंक- २ | सन् २००४

विन्देम देवतां वाचम्

मूल्य : ३० रुपये | **वार्षिक : १२० रुपये**

अनुक्रम :

सम्पादकीय....

यशपाल-स्मृति

हिन्दी के समर्थ-विचारक और कथाकार यशपाल के जीवन और साहित्य का व्यापक फलक है। मार्क्सवाद से प्रभावित यशपाल ने वैचारिक क्रान्ति के प्रसरण के लिए अपने लेखन और जीवन को समर्पित-सा कर दिया था। वे क्रान्तिकारी बने और ब्रिटिश साम्राज्यशाही से लोहा लेते हुए उन्हें जेल जीवन की यंत्रणा भोगनी पड़ी। कारागार में रहकर भी उन्होंने 'पिंजड़े की उड़ान' और 'वो दुनिया' जैसे कथा-संग्रहों की रचना की। मध्य वर्ग के दुःख, दर्द, संत्रास और विषम जीवन पर यशपाल जी ने सशक्त ढंग से लिखा।

यशपाल ने जीवन के सरोकारों को आत्मसात किया और उसके विद्रूपों का व्यंग्यात्मक शैली में खुलासा किया। 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' उपन्यास उनके क्रान्तिकारी जीवन के साथ ही नयी सामाजिक व्यवस्था के प्रति सचेत करने वाली कृतियाँ हैं। नारी की विसंगतियों एवं विरूपताओं के चित्रण में यशपाल जी रमे और दिव्या.जैसी कृति के माध्यम से उन्होंने एक प्रकार का नारी-विमर्श प्रारम्भ किया। उनके 'झूठा सच' उपन्यास को हिन्दी साहित्य में औपन्यासिक महाकाव्य निरूपित किया गया है जो देश विभाजन की त्रासदी, टूटन, घुटन और विघटन की दास्तान का साहित्यिक दस्तावेज माना जाता है।

निबंध, संस्मरण और रेखाचित्र में व्यंग्य-विनोद का समावेश करते हुए 'न्याय का संघर्ष', 'देखा सोचा समझा' और 'सिंहावलोकन' (तीन भाग) जैसी कृतियों का उन्होंने सृजन किया था। हिन्दी साहित्य की इन विधाओं की समृद्धि में उनका योगदान चिरस्मरणीय है।

क्रान्तिकारी और लेखक के रूप में यशपाल जी संघर्षों और चुनौतियों का दंश झेलते रहे। 'विप्लव' जैसी पत्रिका के माध्यम से उन्होंने बलिपंथी चिन्तन धारा को वेगवान बनाने का प्रयास किया था। उनका प्रभूत लेखन न केवल हिन्दी भाषा साहित्य की निधि बना वरन् उनका कृतित्व विश्व-साहित्य में भी प्रतिष्ठित हुआ।

यशपाल हिन्दी के ऐसे समर्थ लेखक थे जिनकी कृतियों अथवा स्फुट कहानियों के अनुवाद गुजराती, मराठी, मलयालम, तेलुगु, उड़िया आदि भारतीय भाषाओं में हुए थे, जिनका उल्लेख स्वयं यशपाल जी ने अपने पत्रों में किया है। इसी प्रकार रूसी, जर्मन, चेक, रूमानियन, अंग्रेजी, फ्रेंच, उजबेक, चीनी आदि भाषाओं में उनकी कृतियों का अनुवदन किया गया है। कोरिनफ्रेंड की शोध कृति 'शार्ट स्टोरीज आफ यशपाल, आथर एंड पेट्रियाट' एक चर्चित कृति है।

विदेशी भाषाओं में लिखित यशपाल साहित्य के संबंध में एक उल्लेख के

अनुक्रम :

सम्पादकीय....

यशपाल-स्मृति

हिन्दी के समर्थ-विचारक और कथाकार यशपाल के जीवन और साहित्य का व्यापक फलक है। मार्क्सवाद से प्रभावित यशपाल ने वैचारिक क्रान्ति के प्रसरण के लिए अपने लेखन और जीवन को समर्पित-सा कर दिया था। वे क्रान्तिकारी बने और ब्रिटिश साम्राज्यशाही से लोहा लेते हुए उन्हें जेल जीवन की यंत्रणा भोगनी पड़ी। कारागार में रहकर भी उन्होंने 'पिंजड़े की उड़ान' और 'वो दुनिया' जैसे कथा-संग्रहों की रचना की। मध्य वर्ग के दुःख, दर्द, संत्रास और विषम जीवन पर यशपाल जी ने सशक्त ढंग से लिखा।

यशपाल ने जीवन के सरोकारों को आत्मसात किया और उसके विद्रूपों का व्यंग्यांत्मक शैली में खुलासा किया। 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' उपन्यास उनके क्रान्तिकारी जीवन के साथ ही नयी सामाजिक व्यवस्था के प्रति सचेत करने वाली कृतियाँ हैं। नारी की विसंगतियों एवं विरूपताओं के चित्रण में यशपाल जी रमे और दिव्या.जैसी कृति के माध्यंम से उन्होंने एक प्रकार का नारी-विमर्श प्रारम्भ किया। उनके 'झूठा सच' उपन्यास को हिन्दी साहित्य में औपन्यासिक महाकाव्य निरूपित किया गया है जो देश विभाजन की त्रासदी, टूटन, घुटन और विघटन की दास्तान का साहित्यिक दस्तावेज माना जाता है।

निबंध, संस्मरण और रेखाचित्र में व्यंग्य-विनोद का समावेश करते हुए 'न्याय का संघर्ष', 'देखा सोचा समझा' और 'सिंहावलोकन' (तीन भाग) जैसी कृतियों का उन्होंने सृजन किया था। हिन्दी साहित्य की इन विधाओं की समृद्धि में उनका योगदान चिरस्मरणीय है।

क्रान्तिकारी और लेखक के रूप में यशपाल जी संघर्षों और चुनौतियों का दंश झेलते रहे। 'विप्लव' जैसी पत्रिका के माध्यम से उन्होंने बलिपंथी चिन्तन धारा को वेगवान बनाने का प्रयास किया था। उनका प्रभूत लेखन न केवल हिन्दी भाषा साहित्य की निधि बना वरन् उनका कृतित्व विश्व-साहित्य में भी प्रतिष्ठित हुआ।

यशपाल हिन्दी के ऐसे समर्थ लेखक थे जिनकी कृतियों अथवा स्फुट कहानियों के अनुवाद गुजराती, मराठी, मलयालम, तेलुगु, उड़िया आदि भारतीय भाषाओं में हुए थे, जिनका उल्लेख स्वयं यशपाल जी ने अपने पत्रों में किया है। इसी प्रकार रूसी, जर्मन, चेक, रूमानियन, अंग्रेजी, फ्रेंच, उजबेक, चीनी आदि भाषाओं में उनकी कृतियों का अनुवदन किया गया है। कोरिनफ्रेंड की शोध कृति 'शार्ट स्टोरीज आफ यशपाल, आथर एंड पेट्रियाट' एक चर्चित कृति है।

विदेशी भाषाओं में लिखित यशपाल साहित्य के संबंध में एक उल्लेख के

अनुसार- पहली पुस्तक 'यशपाल, आथर एंड पेट्रियाट' १९६९ में प्रकाशित हुई थी। १९९५ में यशपाल की कहानियों का संग्रह "इसेंस आफ लव" सामने आया और १९९९ में कोरिन फ्रेंड का दृष्टि सम्पन्न कार्य 'यशपाल लुक्स बैक' (सिंहावलोकन)। इसी प्रकार यशपाल की कृतियों पर 'जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज' का एक विशेषांक संपादित हुआ था और अनेक उच्च साहित्यिक संकलनों में यशपाल के विचारों एवं कृतियों पर उत्कृष्ट सामग्री प्रकाश में आई थी। इससे यह सिद्ध होता है कि यशपाल जी के साहित्य के माध्यम से आधुनिक हिन्दी-साहित्य विश्व-साहित्य में कुछ अंशों में चर्चित एवं प्रतिष्ठित हुआ था।

उर्दू-हिंदी के प्रश्न पर यशपाल जी के विचार उनके आलेख- 'हिन्दी-उर्दू प्रश्न पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण' में है यह एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। यशपाल जी ने लिखा था- 'भाषाशास्त्र के नियमों के अनुसार भाषा की पहचान उसके आत्मसात हो गए अन्य भाषाओं के शब्दों से नहीं, बल्कि उस भाषा की क्रियाओं, क्रियापदों, सर्वनामों और मूलभूत शब्द-भण्डार से होती है। उर्दू में भाषा का यह आधार हिन्दी से पृथक् नहीं। इसी स्थापना के आधार पर उर्दू-हिन्दी के नैकट्य का उन्होंने संधान करके उर्दू को हिंदी की ही एक शैली निरूपित करने का प्रयास किया था।

यशपाल जी एक विशिष्ट साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिसंपन्न रचनाकार थे। वे हिंसा और आतंकवाद के विरोधी थे। उनके मन में नारी वर्ग के उत्थान के लिए तड़प थी। स्वतंत्रता और समानता का बीज मंत्र लेकर उन्होंने मानवता की विमुक्ति के लिए आजीवन आवाहन किया था। साहित्य के संबंध में भी उनकी कुछ चिंताएँ थी, और उन्होंने लिखा था, 'आज ऐसा साहित्य लिखा जा रहा है, जिसमें व्यभिचार के लिए सफाई दी जाती है। यह साहित्य हमारी संस्कृति का माध्यम बनेगा! हमारा जीवन कितना छिछला और संकीर्ण होता जा रहा है, स्वार्थ के बावलेपन की छीना-झपटी और मारकाट हमें बदहवास किए दे रही है। हम अपनी उस मानवता, नैतिकता और स्थिरता को खो चुके हैं, जिसका विकास हमारे आत्मदृष्टा ऋषियों ने संकीर्ण सांसारिकता से मुक्त होकर किया था। हम स्वार्थ की पट्टी आँखों पर बांध कर भारत की आत्मज्ञान की संस्कृति के परम शांति मार्ग को खो बैठे हैं।' (यशपाल की प्रतिनिधि कहानियाँ-संस्करण १९८९, पृ० ३२-३३)

यशपाल जी के जन्मशती वर्ष में 'हिन्दुस्तानी' का यह विशेषांक उनके व्यापक कृतित्व को रेखांकित करने का एक विनम्र प्रयास है। हिन्दी की श्रीवृद्धि के प्रति समर्पित यशपाल का साहित्य निश्चय ही दिशा-दर्शक है।

❑

हरिमोहन मालवीय
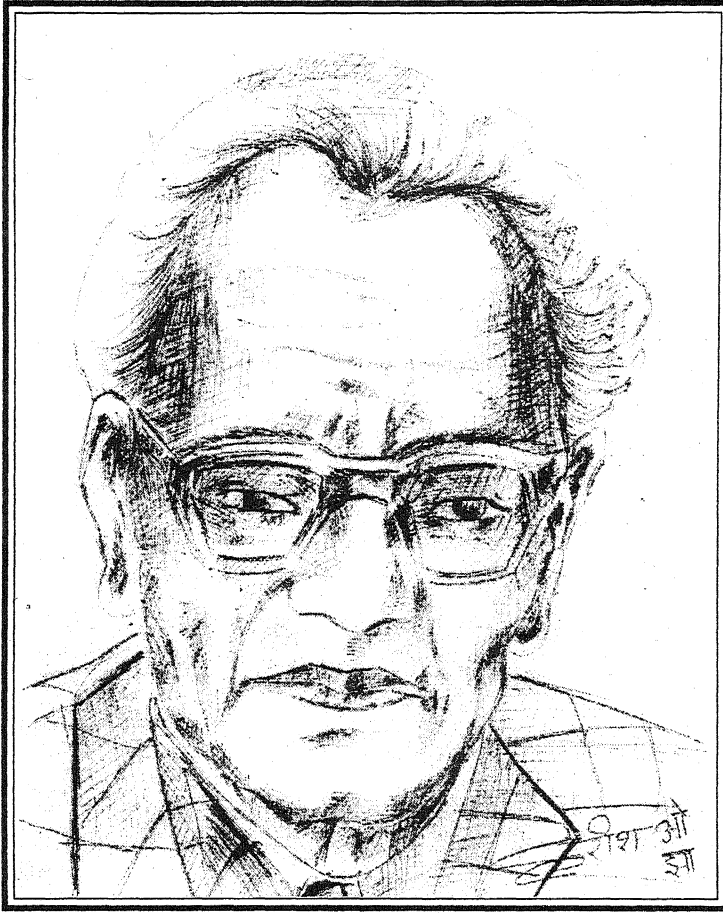
(रेखांकन- श्री हरीश ओझा)

जन्म : ३ दिसम्बर, १९०३ मृत्यु : २६ दिसम्बर, १९७८

‘यशपाल ने भारतीय संस्कृति को नये अर्थ में लिखा’: अमरकान्त

●●

(श्री अमरकान्त जी से यशपाल पर श्री राजेश कुमार गर्ग और श्री कमलेश सिंह द्वारा लिया गया साक्षात्कार)

राजेश कुमार गर्ग- अमरकान्त जी, यशपाल से आपका परिचय कब और कैसे हुआ?

अमरकान्त- यशपाल को एक लेखक के रूप में, मैं बहुत पहले से जानता था। उन दिनों मैं हाईस्कूल में पढ़ता था, जब ‘माया’ में उनकी कहानियाँ छपा करती थीं। मैं यशपाल को एक लेखक के रूप में तो जानता ही था, उन्हें हम लोग यानी मैं और मेरे सहपाठी साथी एक क्रान्तिकारी के रूप में भी जानते थे। जब हम ९वीं में थे तो हमने एक क्रान्तिकारी दल बनाया था और दल से एक लड़के को हमने यशपाल से मिलने के लिये लखनऊ भेजा ताकि हम लोग उनका निर्देश प्राप्त कर अपने दल को संचालित कर सकें। मैनें ‘विप्लव’ का अंक पढ़ा था, उसमें उनका लखनऊ का पता था। मैं साहित्यिक रूप से तो सजग था ही राजनीतिक रूप से भी सजग था परन्तु दुर्भाग्य से हम इस दल को बहुत दिनों तक जीवित नहीं रख सके।

यशपाल को आमने-सामने देखने का मौका तब मिला मैं १९५१ में इलाहाबाद में ‘अमृत पत्रिका’ में पत्रकार था। यशपाल अक्सर इलाहाबाद आते थे। ‘परिमल’ तथा ‘प्रगतिशील लेखक संघ’ उन दिनों काफी सक्रिय मंच थे। ये दोनों संस्थायें यशपाल को बुलाती थीं। जब मैंने पहली बार यशपाल को देखा तो पाया कि उनकी वेशभूषा मेरी कल्पना के बिल्कुल विपरीत थी। उनकी ड्रेस आधुनिक थी। १९५१ की यह स्मृति मेरे दिमाग में आज भी सुरक्षित है।

कमलेश सिंह- यशपाल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में आपके विचार क्या हैं?

अमरकान्त- मैं उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व से तो कक्षा ९ से ही प्रभावित था, उनकी कहानियाँ १०वीं कक्षा में पढ़ना शुरू कर दी थी। बाद मे

मैंने जब 'पार्टी कामरेड', 'दादा कामरेड' पढ़ी तो यशपाल के प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गयी। 'विप्लव' के 'चक्कर क्लब' में वे विचार विमर्श कराया करते थे। ईश्वर, आत्मा, पूर्वजन्म आदि पर यशपाल का विश्वास नहीं था। कई बार इस क्लब में इन विषयों पर बहस होती थी। वे पुरानी बातों का प्रतिपाद किया करते थे। क्रान्तिकारी बातों को लोगों तक पहुँचाया करते थे। यशपाल जैसा सोचते थे वैसा ही उनका जीवन था। आजाद, भगत सिंह, सुखदेव व राजगुरू से उनका साथ था। जब वे जेल से छूटे तो लिखने की पहले से आदत के कारण उन्होंने लेखन चुना। क्रान्तिकारी प्रकाशवती जी से उन्होंने जेल में ही विवाह कर लिया था। उनका 'विप्लव' नामक प्रेस था जिसका कार्य प्रकाशवती जी ही देखा करती थीं।

राजेश कुमार गर्ग- यशपाल की किस कहानी से आप गहरे प्रभावित हुये? उनकी रचना प्रक्रिया के बारे में कुछ बताइये?

अमरकान्त- यशपाल की अनेक कहानियों ने मुझे प्रभावित किया था। एक कहानी आपने पढ़ी होगी 'परदा' जिसमें एक मुस्लिम परिवार की गरीबी का चित्रण है। ब्रह्मचर्य पाखण्ड प्रतिपाद के लिये उन्होंने 'धर्मरक्षा' कहानी लिखी। 'फूलो का कुरता' उनकी एक मशहूर कहानी है जिसमें भारतीय जीवन के एक भयावह सामाजिक विद्रूप एवं विडम्बना पर प्रकाश डाला गया है। सच तो यह है कि सभी कहानियां मिलकर किसी कथाकार के व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। कुछ कमजोर कहानियों के आधार पर किसी कथाकार की आलोचना ठीक नहीं है। नये समय में उनके साहित्य की और गहराई से आलोचना करने की ज़रूरत है। कई बार उनकी कहानियां बौद्धिक निबन्ध टाइप लगता है उनकी रचना प्रक्रिया को इस तरह से समझा जा सकता है कि वे साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का हथियार मानते थे। मेरा ख्याल है कि वे साहित्य में आये ही इसीलिये थे। उनके ऊपर अश्लीलता का जो आरोप है वह भी उनके क्रान्तिकारी विचार के सन्दर्भ में ही देखने लायक है। वे सामाजिक परिवर्तन के रास्ते में जो बाधायें हैं उनका विरोध उद्घाटन करते हैं उन्हें खोलकर सामने रखते हैं।

कमलेश सिंह- यशपाल के कथा साहित्य ने समाज की मानसिकता बदलने में क्या मदद की है?

अमरकान्त- समाज की मानसिकता एक दिन में नहीं बदलती। यह परिवर्तन बहुत धीमे होता है। साहित्य का आधार संवेदनात्मक होता है। यदि साहित्य में क्षमता है तो वह प्रभावित तो करेगा ही, पर इसकी प्रक्रिया अवश्य लम्बी है। फिर उस समय शिक्षा कम थी, गरीबी थी, जिससे सब लोग साहित्य पढ़ और खरीद नहीं पाते थे लेकिन शिक्षित समाज में उनका साहित्य पढ़ा जाता था। आप सोचिये कि मेरे

जैसा बलिया जिले का निवासी ९वी-१०वीं में उनकी रचनायें पढ़कर उनसे प्रभावित हुआ था। मुझे अच्छी तरह याद है कि किस तरह मैंनें अपनी जेब खर्च में कटौती कर 'दादा कामरेड' खरीद कर पढ़ी थी। साहित्य राजनीति की तरह नहीं है कि भाषण दिया और लोग फौरन प्रभावित हो गये। यह सूक्ष्म चीज है जिससे धीरे-धीरे संवेदनात्मक परिष्कार होता है फिर उन दिनों हिन्दी की दशा भी बहुत अच्छी नहीं थी। उसे सरकारी संरक्षण तो था नहीं। अंग्रेजी का वर्चस्व ज्यादा था फिर भी हिन्दी के साहित्य का असर हो रहा था। यशपाल की 'विप्लव' पत्रिका इन्हीं दिनों की थी। वह लोगों पर असर कर रही थी।

कमलेश सिंह- क्या आप मानते हैं यशपाल प्रेमचन्द की परम्परा के सच्चे वारिस हैं? यशपाल को हिन्दी कथा साहित्य के किस मोड़ पर याद किया जायेगा?

अमरकान्त- एक तो यही समझने की बात है कि प्रेमचन्द की परम्परा क्या है? प्रेमचन्द्र के पहले साहित्य में ऊँचे वर्ग के जीवन का ही चित्रण होता था। घीसू, माधव, हलाकू जैसे लोग कथा साहित्य के केन्द्र में थे ही नहीं। प्रेमचन्द्र ने 'इन लोगों' को साहित्य के केन्द्र में रखा। गरीब किसानों और मजदूरों के जीवन पर उन्होंने लिखा। इस हिसाब से प्रेमचन्द की तरह यशपाल की रचनाओं में किसान नहीं हैं, वे तो मध्यवर्ग के लेखक हैं। प्रेमचन्द की परम्परा का लेखक होने का मतलब है प्रेमचन्द का अनुकरण नहीं बल्कि उनकी परम्परा का विकास है। इस अर्थ में यशपाल को भी प्रेमचन्द की परम्परा का लेखक इसलिये कहा जायेगा कि उनका उद्देश्य भी प्रेमचन्द की तरह देश-निर्माण व सामाजिक परिवर्तन था।

राजेश कुमार गर्ग- कहा जाता है कि यशपाल का रचना-संसार 'गोदान' की अगली कड़ी है?

अमरकान्त- 'गोदान' में प्रेमचन्द जिस गरीबी, शोषण, भाग्यवाद का चित्रण करते हैं, उनका विरोध यशपाल भी अपनी सीमाओं में अपने तरीके से करते हैं। इस अर्थ में आप अगली कड़ी कह सकते हैं।

राजेश कुमार गर्ग- 'झूठा-सच' को हिन्दी कथा साहित्य के विभाजन से सम्बन्धित साहित्य में आप कहाँ रखते हैं?

अमरकान्त- विभाजन की त्रासदी वाले उपन्यासों में 'तमस' तथा 'झूठा-सच' का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि दोनों रचनायें महान हैं। लेकिन मेरा ख्याल है कि यशपाल का 'झूठा-सच' केवल विभाजन के ही समय को ही नहीं बल्कि उसके पूर्व इतिहास और कारणों की समीक्षा करता हुआ और उसके माध्यम से भविष्य का भी संकेत देता है। इतना व्यापक तथा गहराई के साथ चित्रण हिन्दी साहित्य मे शायद ही उपलब्ध होगा। 'झूठा-सच' विभाजन के विरूद्ध

एक बहुत बड़ा अभियान है।

कमलेश सिंह- एक विद्वान ने कहानीकार के रुप में प्रेमचन्द को श्रेष्ठ बताया है लेकिन उपन्यासकार के रूप में यशपाल को प्रेमचन्द से ऊँचा दर्जा दिया है। इस सम्बन्ध में आप कुछ कहना चाहेंगे।

अमरकान्त- इस तरह 'खाना' बनाकर लेखकों का मूल्यांकन करना, चौखटा बनाकर देखना कोई विवेचन नहीं है। प्रेमचन्द पहले हुये हैं यशपाल बाद में। दोनों के समय की परिस्थितियों का प्रभाव उन पर है। कहानियाँ दोनों ने लिखी हैं। प्रेमचन्द ने सुधारवादी, आदर्शवादी आदि सभी तरीके की कहानियाँ लिखी हैं, पर प्रेमचन्द चर्चित हैं अपनी यर्थाथवादी कहानियों के कारण। यशपाल को प्रेमचन्द निर्मित जमीन मिली थी जबकि प्रेमचन्द को ऐसी जमीन नहीं मिली थी। यद्यपि यशपाल पर आरोप है कि वे चौखटा या फार्मूला बनाकर कहानी लिखते हैं, पर ये बातें ठीक नहीं है। प्रेमचन्द का 'गोदान' हिन्दी का अप्रतिम उपन्यास है। होरी का जैसा चरित्र-चित्रण प्रेमचन्द ने किया है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। उनका वर्णन पढ़कर ऐसा लगता है मानो हम कोई काव्य पढ़ रहे हों। उनमें बुद्धि के साथ हृदय का भी अंश है, परन्तु यशपाल में बौद्धिकता ज्यादा है। इनमें श्रेष्ठता का विवाद ठीक नहीं है। दोनों महान हैं, दोनों का अपना-अपना कथ्य है, शिल्प है। इसमें यह श्रेष्ठ, उसमें यह श्रेष्ठ यह सर्वाकार करने में मुझे हिचक होती है।

कमलेश सिंह- अच्छा यह बताइये कि पौराणिक घटनाओं के सहारे अपने दृष्टिकोण को रखना कहाँ तक उचित है? क्या इससे पाठक ऐतिहासिक चकाचौंध में नहीं फंस जाता है? लेखक का मूल कथ्य छिप नहीं जाता है? क्या यशपाल पौराणिक कथाओं के सहारे सामाजिक यथार्थ का चित्रण कर पाने में सफल रहे हैं?

अमरकान्त- पौराणिक कथाओं की हिन्दुस्तान में भरमार है। यह तो कथाओं का देश है लेकिन आज की समस्याओं को उद्‌घाटित करने के लिये भले ही पौराणिक चरित्रों को लिया जाये परन्तु उनकी व्याख्या तो आज के संदर्भ में ही होगी। राम पर बाल्मीकि, तुलसी, गुप्त जी ने लिखा है पर वहीं नरेश मेहता जी ने समय को लक्ष्य रखकर 'सराय की एक रात' में बिल्कुल नये अर्थों में राम को लिया है। निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' में उन्हें अपने तरीके से परिभाषित किया है। यशपाल ने भी 'दिव्या' में पौराणिक कथाओं के माध्यम से आज के सामाजिक रिश्तों को ही परिभाषित किया है। इसी तरह कबीर पर भीष्म साहनी ने एक नाटक लिखा है। इस तरह के प्रयोग लोग हमेशा करते रहे हैं। यशपाल ने भी यही किया है और अर्थ-सम्प्रषणों में सफल भी रहे हैं।

राजेश कुमार गर्ग- यशपाल के यहाँ किसान नहीं है आखिर क्यों?

अमरकान्त- देखिये कथाकार के पास अभिव्यक्ति के लिये अलग-अलग माध्यम होते हैं। चित्रकार के पास चित्र, संगीतकार के पास संगीत, मूर्तिकार के पास मूर्ति अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। यह जरूरी नहीं है कि आप किसान पर लिखें ही। यशपाल ने मध्य वर्ग पर अधिक दृष्टि डाली है क्योंकि उनका क्षेत्र मध्यम वर्ग ही था।

राजेश कुमार गर्ग- यशपाल ने समय-समय पर कुछ राजनैतिक निबन्ध लिखे हैं। क्या आप उसे सृजनात्मक लेखन का अंश मानते हैं?

अमरकान्त- ये वैचारिक लेख है। राजनैतिक, कला, भाषा आदि से सम्बन्धित लेख यशपाल ने लिखे हैं। हिन्दी के समर्थन में निबन्ध लिखे हैं। सृजनात्मक रचना में हम अगर कविता, उपन्यास, कहानी आदि को लें तो ठीक रहेगा। आत्मकथा भी सृजनात्मक होती है। सृजनात्मक लेखन के सपोर्ट में यशपाल ने वैचारिक निबन्ध लिखे थे। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

कमलेश सिंह- 'अश्लीलता के चितेरे', 'साड़ी जम्परदार', 'कलाहीनता के उन्नायक' जैसे शब्दों द्वारा यशपाल पर प्रहार किये गये हैं। इस सम्बन्ध में आपकी टिप्पणी क्या है?

अमरकान्त- ये सब कहीं-कहीं है कह सकते हैं, पर ये उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन नहीं है। रामविलास जी ने अश्क, शिवदान सिंह, पन्त आदि की आलोचना उस जमाने में की थी जब वे मार्क्सवादी पार्टी के सचिव थे। हो सकता है यशपाल की कुछ कमजोरी हो। आलोचना शालीन होनी चाहिये। एक कमजोरी पकड़कर उसे पूरे व्यक्तित्व पर लागू कर देना ठीक नहीं है।

राजेश कुमार गर्ग- कलावादी यशपाल पर भारतीय संस्कृति के विरोधी और मार्क्सवादी साहित्य के प्रचारक तथा मार्क्सवादी उन पर विकृत समाजशास्त्र रचने का आरोप लगाते हैं? आपको इस बारे में क्या कहना है?

अमरकान्त- आरोप लगाने का क्या है, कोई कुछ भी कह सकता है। **यशपाल ने भारतीय संस्कृति को नये अर्थ में लिखा है।** आज दुनिया बदली है, उसमें आपकी संस्कृति के जो उदार और श्रेष्ठ तत्व हैं उसकी व्याख्या वे करते हैं। यशपाल पर दोनों ही किस्म के आरोप सही नहीं हैं। जमाना तेजी से बदल रहा है और यशपाल भविष्य के लेखक हैं। उन पर विचार करते समय इस दृष्टि से सोचना चाहिये।

राजेश कुमार गर्ग- यशपाल को पुरस्कारों से वंचित रखा गया, क्या वे राजनीति के शिकार नहीं हुये?

अमरकान्त- पुरस्कारों की राजनीति आप जानते ही हैं। जो सत्ता के निकट हैं उसे पुरस्कार मिलता है। मुझे याद है कि उनका 'झूठा-सच' अकादमी पुरस्कार की

अन्तिम सूची मे था लेकिन पुरस्कार नहीं मिला। मुझे बालकृष्ण राव जी ने बताया था कि एक विद्वान ने अन्तिम समय में विरोध किया था।

कमलेश सिंह- एक लेखक के रूप में आप यशपाल के साहित्य की सीमा बता सकते हैं?

अमरकान्त- यशपाल की रचनाओं में वह संवेदना नहीं है जो प्रेमचन्द में है। स्वाभाविक चरित्र कम है विचारों के मुखौटे यशपाल के यहाँ मिलते हैं। कहीं-कहीं अदबदा कर सेक्स सिम्बल का प्रयोग किया गया है। पर नारी की बात करते हुये ऐसा करना उन्हें जरूरी लगा होगा लेकिन इसी वजह से खारिज करना अनुचित है।

राजेश कुमार गर्ग- मौजूदा समय में यशपाल के साहित्य की प्रासंगिकता क्या हो सकती है?

अमरकान्त- यशपाल सदैव एक जनतान्त्रिक समाज के निर्माण के लिये प्रयत्नशील रहे। उन्होंने मनुष्य की जिजीविषा की बात की है। तुलसी सदैव प्रासंगिक है क्योंकि उनके यहाँ जीवन की सम्पूर्ण आलोचना है। यशपाल स्त्री-पुरुष समानता और शोषणहीन समाज के निर्माण की कल्पना के आधार पर एक जनतान्त्रिक समाज का निर्माण साहित्य के माध्यम से करना चाहते थे। यशपाल तो चले गये परन्तु उनके साहित्य की प्रक्रिया आज भी जारी है और आगे भी जारी रहेगी।

कमलेश सिंह- अन्त में, यशपाल के बारे में कुछ कहना चाहेंगे?

अमरकान्त- इतना कह चुका और क्या कहूँ। यशपाल हिन्दी के बड़े समर्थ लेखक हैं। यशपाल ने साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम बनाया था। हिन्दी को समृद्ध बनाने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। समाज जब बदलता है तो बदलाव की बातें साहित्य में आनी चाहिये, उसे लाने का कार्य यशपाल ने किया। युग के अनुरूप लिखना एक बड़ी बात है। यशपाल ने जो कुछ लिखा उसका उद्देश्य समाज को स्वाभिमान के साथ जीने की सामर्थ्य देना था।

❑

श्री कमलेश सिंह
६ए, कटरा रोड
इलाहाबाद-२

श्री राजेश कुमार गर्ग
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
ई०सी०सी०, इलाहाबाद

यशपाल के उपन्यास: सामाजिक मूल्यों के प्रमाणिक दस्तावेज

●●

श्री प्रभाकर सिंह

प्रेमचन्द्र के पश्चात यशपाल ऐसे सशक्त उपन्यासकार हैं जिन्होने समाजिक मूल्यों का गहराई से अपने जीवन में अनुभव किया और उन्हें अपने उपन्यासों का मुख्य विषय बनाया। उन्होंने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज के सभी वर्गों की समस्याओं और विषमताओं को नजदीक से देखा और जीवन्तता से उनका चित्रण किया। एक ओर परम्परा से चले आ रहे रूढ़िवादी विचारों, शोषण आदि का विरोध उन्होनें अपने उपन्यासों के माध्यम से किया तो दूसरी ओर स्वस्थ समाज की निर्मिति के लिये क्रान्ति का आवाहन भी किया।

यशपाल जी के उपन्यासों में 'दादा कामरेड', 'पार्टी कामरेड', 'देशद्रोही', 'दिव्या', 'झूठा सच' और 'तेरी मेरी उसकी बात' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। 'दादा कामरेड' यशपाल का पहला उपन्यास है। 'दादा कामरेड' में राजनीतिक क्रान्ति के साथ सामाजिक क्रान्ति पर भी चर्चा है। उपन्यास की भूमिका में उपन्यासकार ने लिखा है कि, "संसार में आज अनेक वादों पूंजीवाद, जातिवाद, गाँधीवाद, समाजवाद का संघर्ष चल रहा है। इस विचार संघर्ष की नींव में सामंजस्य बैठाने का प्रयत्न एवं इन वादों के संघर्षों से उत्पन्न समन्वय ही मनुष्य की नयी सभ्यता का आधार होगा। मनुष्य होने के नाते हम इस संघर्ष की उपेक्षा नहीं कर सकते। इस संघर्ष के परिणाम के सम्बन्ध में हमारी चिन्ता स्वयं अपने और अपने समाज की है।" ('दादा कामरेड', पृ० २) उपन्यास में यशपाल ने इसी भूमिका का विस्तार विभिन्न घटनाओं के माध्यम से किया है। इन्हीं सामाजिक घटनाओं में से एक नारी मुक्ति का

सर्मथन वे अपने इस उपन्यास के माध्यम से करना चाहते हैं, "आज हमारे समाज का आधा भाग यानी नारी कठिनाई और संघर्ष में अपने आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक दायित्वों को समझें। वे केवल कंधों पर बोझ न बनी रहें।" (दादा कामरेड, पृ० १०१)

'दादा कामरेड' के पांच वर्ष पश्चात 'पार्टी कामरेड' प्रकाशित हुआ। 'पार्टी कामरेड' उपन्यास कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियों पर केन्द्रित है जो दादा कामरेड के क्रान्तिकारियों के जीवन के बाद यशपाल के चिन्तन और सृजन का अगला पड़ाव है। इस उपन्यास में रचनात्मकता का अंश अधिक है। उपन्यास में कम्युनिस्ट पार्टी के मध्यममवर्गीय चरित्र का यथार्थ चित्रण हुआ है। इसी बीच 'देशद्रोही' उपन्यास आता है। संयुक्त परिवार की प्रेम भावना आज कितनी खोखली और अस्थिर है इसका उदाहरण देशद्रोही उपन्यास में मिलता है...... "नये ढ़ंग की पढ़ी-लिखी बहू के घर आने से बुआ और जेठानी ने परेशानी का अनुभव किया परन्तु डॉक्टर की ऊँची नौकरी पा जाने के उत्साह में वह भुला दी गयी थी। घर में बहू आने पर लक्ष्मी के चरण पड़ने के कारण वह लाड़ली बन गयी थी। सास के आसन की अधिकारी बुआ और जेठानी उसे कुछ न कह सकती थी परन्तु कुलक्षणा विधवा बन जाने पर वह बहू बोझ बन गयी थी।" (देशद्रोही, पृ० ४२)

इसके पश्चचात उनका सबसे बड़ा और महाकाव्यत्मकता से परिपूर्ण उपन्यास 'झूठा सच' आता है। इसका प्रथम भाग 'वतन और देश' १९५८ में तथा दूसरा भाग 'देश का भविष्य' १९६० में प्रकाशित हुआ। यशपाल का 'झूठा-सच' उपन्यास विभाजनगत त्रासदी की महागाथा है, जिसमें स्वतंत्रता से पहले और पश्चात की राजनैतिक, समाजिक ओर आर्थिक स्थितियों, स्त्री-पुरूष संबंधों, जाति वर्ग और सम्प्रदायों के घृणित और अमानवीय चेहरों, साम्प्रदायिक दंगों की विभिषिका तथा मानवीय त्रासदी एवं वेदना के स्वर सुनाई देते हैं। उपन्यास में मध्यमवर्गीय जीवन, नेताओं की क्षुद राजनीति, वर्ग विषमता, साम्प्रदायिकता, अभाव और शोषण से ग्रस्त नारी तथा अनेक समस्याओं का घटना दर घटना चित्रण किया गया है। उपन्यास में साम्प्रदायिकता जनित त्रासदी एवं उसकी राजनीति का जीवंत वर्णन करने में इसलिये यशपाल जी इतने सफल हुये क्योंकि वे स्वयं क्रान्तिकारियों की तरह उनका कटु अनुभव कर चुके थे। उपन्यास में स्पष्ट रूप से उन्होंनें गाँधीवाद कांग्रेस का विरोध किया है तथा समाजवादी विचारधारा की ओर अपना सर्मथन व्यक्त किया है। आजादी के बाद शासन की बागडोर कांग्रेस के हाथ में आ गयी परन्तु अर्थव्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। "क्या चेंज है? और भी बुरा हाल है। पूंजीपतियों के हौसले बढ़ गये हैं, अब हमारे चंदों से पलने वालों का राज है।

बेचारे मजदूरों से हडताल का अधिकार भी छीन लिया।" (झूठा सच, पृ० ३९८)

'झूठा-सच' उपन्यास विभाजन की त्रासदी, राजनीतिक ओछापन ही नहीं प्रस्तुत करता अपितु नारी जीवन की करुण गाथा को भी यथार्थ और विश्वसनीय रूप में व्यक्त करता है। जिस तरह दिव्या उपन्यास में दिव्या परिस्थितियों के घात-प्रतिघातों को सहती है, ठीक उसी प्रकार 'झूठा सच' उपन्यास में तारा साम्प्रदायिक दंगों की विभिषिका में डूबती उतराती है। धर्म और मानवता की दुहाई देने वाले समाज की रूढियों और मान्यताओं की काराओं से निकलकर वह गुजरती है, चुनौतियों को स्वीकार करती है लेकिन अन्त तक हार नहीं मानती। सच तो यह है कि झूठा सच एक औपन्यासिक कृति मात्र न होकर विभाजन के दौर और उसके बाद के भारतीय समाज व राजनीति का प्रमाणिक दस्तावेज है।

'झूठा सच' के बाद यशपाल का अगला महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'दिव्या' है। 'दिव्या' का कथानक बौद्धकालीन है। वह इतिहास नहीं ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। इस ऐतिहासिक कल्पना में समस्यायें आज की हैं। यशपाल इस उपन्यास के माध्यम से ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र अंकित करते हैं तथा उसमें यथार्थ का रंग भरते हैं। 'दिव्या' की कथा भले बौद्धकालीन है चिंता वर्तमान है। 'दिव्या' में यशपाल वर्णाश्रम धर्म को प्रतिष्ठित करने वाले ब्रह्मण धर्म की वास्तविकता को प्रस्तुत करते हैं।

'तेरी मेरी उसकी बात' यशपाल का अंतिम उपन्यास है। यह साहित्य अकादमी से पुरस्कृत भी है। इस उपन्यास में १९२८ के बाद का राष्ट्रीय आन्दोलन का महाआख्यान रचा गया है। इन उपन्यासों के अलावा 'बारह घण्टे', 'अप्सरा का शाप' ओर 'अमिता' उनके अन्य उपन्यास हैं। जिनमें 'बारह घंटे' स्त्री पुरूष सम्बन्धों पर आधारित है और 'अमिता' एवं 'अप्सरा का श्राप' ऐतिहासिक होते हुये भी समसामयिक समस्याओं की पड़ताल करते हैं।

इस प्रकार यशपाल ने अपने उपन्यासों में शोषितों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण, सहानुभूति, व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं उदारता आदि मूल्यों की स्थापना करने का प्रयत्न किया है क्योंकि सभी मूल्य समाज के विकास और व्यक्ति कल्याण की भावना से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित हैं।

❑

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
हण्डिया पी०जी० कालेज
इलाहाबाद

यशपाल और दिव्या

डॉ० ज्ञानेन्द्र राम त्रिपाठी

उपन्यास ऐसी कला है जिसमें मनुष्य सामाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपित होकर सामने आता है। 'गोदान' से 'झूठा-सच' तक का हिन्दी उपन्यास का विकास क्रम अपने भीतर भारतीय इतिहास के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पच्चीस वर्षों को समेटे हुये है। यह एक ओर सामन्ती व्यवस्था के विघटनशील होने का तथा दूसरी ओर पूँजीवादी व्यवस्था के विकसित होने का काल है। यशपाल के कथा साहित्य का विषय कालक्रम का मोहताज नहीं है। जहाँ एक ओर वे 'झूठा-सच' के माध्यम से चौथे दशक से शुरू होकर छठे दशक तक अपने तार्किक निष्कर्ष पर पहुँच जाने वाली मोहभंग की प्रक्रिया का और उसके समान्तर पारम्परिक मूल्य व्यवस्था के निरन्तर अर्थहीन पड़ते चले जाने का दौर स्पष्ट रूप से रखते हैं, वहीं 'दिव्या' में २००० वर्ष पीछे के इतिहास से सबको नीर-क्षीर-विवेक के साथ रखने का साहस दिखलाते हैं।

'दिव्या यशपाल का पहला उपन्यास है जिसमें उन्होंने यथार्थ के उद्घाटन के लिये इतिहास की पृष्ठभूमि के रुप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'दिव्या' इतिहास नहीं ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है।[१] 'दिव्या' के माध्यम से यशपाल ने अपने समय विशेष में प्रचलित मूल्यों का सच्चाई के साथ खाका खींचने का प्रयास किया है। इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट कराते हुये प्रो० मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि "अपने समय समाज और इतिहास की प्रक्रिया से परिभाषित मनुष्य ही उपन्यास रचना

का लक्ष्य है और समाजशास्त्रीय अन्वेषण का भी। एक उसकी कलात्मक पुनर्रचना का माध्यम है, तो दूसरा उसके बौद्धिक विश्लेषण का साधन।"[२] आगे उनका मानना है समाजशास्त्र में मनुष्य की सामाजिकता की पहचान के अनेक रास्ते हैं। उनमें से जो रास्ता साहित्य संसार से होकर जाता है वह सबसे सुगम और विश्वसनीय होता है जब वह उपन्यास के रचना संसार से गुजरता है क्योंकि वहाँ न तो कविता की तरह आत्मपरकता की फिसलन होती है और न नाटक के यथार्थ का मायालोक।[३] इस प्रकार उपन्यास आधुनिक चेतना की अभिव्यक्ति का कलात्मक माध्यम है।

'दिव्या' का संबंध बौद्धकालीन युग से है। १९४५ में लिखा गया यह उपन्यास अपने से २००० वर्ष पूर्व के समय और समाज का चित्र खींचता है जब प्रायः स्वतंत्रता संग्राम के दौरान अतीत को वर्तमान की पृष्ठभूमि में देखने और उससे आनंदित होने का काल था। इस पूरे उपन्यास की कथाभूमि ने इस आनन्द को एक झटके से तोड़ दिया है। वह यथार्थ की पृष्ठभूमि पर इतिहास की ऐसी शक्ल प्रस्तुत करता है जिसे देखकर हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। व्यक्ति एवं समाज को देखने का दृष्टिकोण यशपाल का बुद्धिप्रधान प्रतीत होता है। 'दिव्या' में उन्होंने भौतिकवादी दृष्टिकोण की स्थापना बुद्धिप्रधान दृष्टि को संबल देते हुये किया है। 'दिव्या' में लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण में काल्पनिक पात्रों के द्वारा नारी जीवन की स्वतंत्रता की चिंरतन समस्या को लिया है। ऐतिहासिकता का स्पष्टीकरण करते हुये लेखक ने कहा है कि "उस समय के चित्रमय ऐतिहासिक काल के प्रति लेखक का मोह।" इतिहास के बारे में प्राक्कथन मे ही कह देते हैं "इतिहास का तत्व विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति और समाज की रचनात्मक क्षमता का विश्लेषण करता है। वह प्राकृतिक एवं भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन करता है, सामाजिक परिस्थितियों का वह सृष्टा है। इतिहास विश्वास नहीं विश्लेषण की वस्तु है। इतिहास मनुष्य का अपनी परम्परा में आत्मविश्लेषण है। जैसे नदी प्रतिक्षण नवीन जल बहने पर भी नदी का अस्तित्व और उसका नाम नहीं बदलता, वैसे ही किसी में जन्म मरण की निरन्तर क्रिया और व्यवहार के परिवर्तन से वह जाति नहीं बदल जाती। उनका मानना था कि अतीत में अपने रचना सामर्थ्य और परिस्थितियों के सुलझाव के अपने प्रयत्नों के परिचय से जाति वर्तमान और भविष्य के सुलझाव और रचना के लिये निर्देश पाती है।[४]

'दिव्या' में यथार्थवाद का दर्शन सार रूप में प्राप्त होता है। यथार्थवाद लेखक के विचार के बावजूद स्पष्ट हो जाता है। लेखक की विचारधारा और रचना के यथार्थवाद के बीच हमेशा समानधर्मिता ही नहीं होती, कई बार विरोध भी होता

है। इस विरोध की उपेक्षा करके आलोचना रचना के साथ न्याय नहीं कर सकती। 'दिव्या' उपन्यास का प्रारंभ मद्र राज्य की सागल गणपरिषद द्वारा आयोजित 'मधुपर्व' से होता है, जिसमें सागल के द्विजकुल की कन्या महापंडित देवशर्मा की प्रपौत्री और राजनर्तकी मल्लिका की शिष्या, दिव्या को सर्वश्रेष्ठ नृत्यकला के प्रदर्शन पर 'सरस्वती पुत्री' तथा दासपुत्र पृथुसेन को सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी की उपाधि से सम्मानित किया जाता है। पृथुसेन की विजय से जहाँ एक ओर अभिजातवर्गीय युवकों के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है, वहीं दूसरी ओर दिव्या पृथुसेन के प्रति आकर्षित होती है और दोनों धीरे-धीरे प्रगाढ़ प्रणयसूत्र में बंधते चले जाते हैं। इसी बीच यवनों का आक्रमण होता है। युद्ध में जाने से पूर्व पृथुसेन दिव्या से मिलता है और विवाह का वचन देने पर दिव्या विश्वासपूर्वक पृथुसेन के समक्ष आत्मसमर्पण कर देती है।

यह कथा का नाटकीय मोड़ है। जिस देश में पद के लिये नित नये राजनीतिक परिवर्तन हो रहे हों, वहाँ इसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर न दिखे, ऐसा संभव नहीं प्रतीत होता। 'दिव्या' में भी यशपाल ने यही दिखाया है। युद्ध में अपूर्व शौर्य का परिचय देने वाला पृथुसेन अपने निजी जीवन में स्वयं द्वारा दिये गये वचन को तोड़कर पिता के कहने पर सीरो से विवाह करने के लिये विवश हो जाता है। दिव्या पृथुसेन द्वारा प्रदत्त गर्भ धारण कर चुकी थी, अतः पृथुसेन-सीरो के विवाह से उसे गहरा आघात लगता है। लज्जा एवं ग्लानिवश वह सागल छोड़कर चली जाती है। सागल के छोड़ने के साथ ही दिव्या की नाटकीय यात्रा आरंभ होती है। दिव्या, दास व्यापारी प्रतूल के हाथ पड़ने और बेचे जाने पर आत्महत्या का भी प्रयास करती है। आत्महत्या का प्रयास, उसके निजी जीवन के गहन क्षोभ से गुजरने वाला काल है जहाँ वह जीवन को समाप्त करने का प्रयास करती है। उसे आत्महत्या के प्रयास में मुक्ति का द्वार खुला प्रतीत होता है। कहते हैं कि माँगने से मौत भी मुअस्सर नहीं होती। दिव्या पुनः नर्तकी रत्नप्रभा द्वारा बचा ली जाती है और अपने नये जीवन के नये नाम अंशुमाला के साथ नर्तकी के रूप में रसिक समाज के मन बहलाव का साधन बनती है। अंशुमाला की नियति में यह नही है कि वह अपने जीवन को उसी रूप में सीमित कर ले, उसे तो बड़ा अभिनय करना ही है, उपन्यास की नायिका जो ठहरी। वह पुनः सागल जाती है जहाँ का अभिजात समाज उसे एक वेश्या के रूप में स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। "मद्र में द्विजकन्या वेश्या के आसन पर बैठ कर जन के लिये भोग्य बनकर वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती।"[५] यह आवाज आचार्य भृगु शर्मा की थी, जिनके वर्णाश्रम पोषण में कन्या का मर जाना, नारी का पतित होना तो न्यायसंगत है,

किन्तु सम्मान से राजनर्तकी के पद पर बैठ रही भटकती हुई कन्या, जिसे राज्य द्वारा सरस्वतीपुत्री का सम्मान मिल चुका है, न्यायसम्मत नहीं प्रतीत होता। वर्णाश्रम की यह विवशता को यशपाल ने उपन्यास में सर्वत्र दिखाया है। कहीं कहीं मानो प्रतीत होता है कि उपन्यास लिखना और विचारधारा विशेष का विरोध करना दोनों उनके यहाँ पर्याय है।

दिव्या कहीं की नहीं होती, वह तो अपने नये नाम के साथ नया जीवन व्यतीत कर रही थी, किन्तु देशमोह ने और मारिश के अकाट्य तर्कों ने उसे इस मार्ग पर लाया था। वह पुनः अंतिम प्रयास करते हुये इस विषय में धर्मव्यवस्थापक, नीतिविद, आचार्य, रुद्रधीर का निर्णय जानना चाहती है। और इस निर्णय "वर्णाश्रम की व्यवस्था त्रिकाल के लिये सत्य है।"[६] सुनकर पान्थशाला की ओर अग्रसर होती है, जहाँ शाम होने पर राही अगली यात्रा के लिये विश्राम करता है। दिव्या की यात्रा में अनेक पड़ाव आये किन्तु यह पड़ाव भिन्न किस्म का था। यहाँ मानो जीवन की अलग सी तस्वीर हो क्योंकि सागल के नागरिकों के साथ-साथ मूर्तिशिल्प मारिश एवं बौद्धभिक्षु पृथुसेन दोनो अलग-अलग मुद्राओं में अलग-अलग उद्देश्यों के साथ पांथशाला की ओर अग्रसर थे। मारिश जहाँ पीड़ित नारी को सान्त्वना देने की बात कहता है वहीं दूसरी ओर भिक्षु प्रताड़ित नारी को धर्म की शरण में लेकर शान्ति देना चाहता है। इन दोनों के उद्देश्य भिन्न थे किन्तु दोनों का पांथशाला में जा सकना संभव नहीं था। इसी बीच गणपरिषद के महामात्य, धर्म व्यवस्थापक, महासामन्त रुद्रधीर का आगमन होता है।

रुद्रधीर भिक्षु पृथुसेन एवं शिल्पी मारिश को एक साथ 'दिव्या' के सामने खड़ाकर मानो नारी अदालत की स्थापना की हो। दोनों अलग-अलग पक्ष रखते हैं और उनका जवाब 'दिव्या' शालीनता के साथ देती है। तीनों वादियों के साथ एवं दिव्या का स्वयं का इतिहास साथ-साथ है। इतिहास के साये में साहित्य के समाज शास्त्र का अवलोकन शायद कठिन कार्य नहीं है। आचार्य रुद्रधीर ने अपना प्रस्ताव इस प्रकार रखा "देवी तुम्हारा स्थान नर्तकी वेश्या के आसन पर नहीं। तुम कुलकन्या हो, तुम्हारा स्थान कुलवधू के आसन पर, कुलमाता के आसन पर है।" दिव्या ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया "आचार्य कुलवधू का आसन, कुलमाता का आसन, कुल महादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान है। यह अकिंचन नारी उस आसन के सम्मुख आदर से मस्तक झुकाती है, परन्तु आचार्य कुलमाता और कुलमहादेवी, निरावृत वेश्या की भाँति स्वतंत्र और आत्मनिर्भर नहीं है।"[७] दिव्या यहाँ नारी के आत्मनिर्भर स्वरूप का प्रतीक है। वह कुल महादेवी का सम्मान नहीं प्राप्त करना चाहती क्योंकि उसकी इयत्ता पुरूष के प्रश्रयमात्र में है। वह रुद्रधीर से आगे कहती

है, "ज्ञानी आर्य, जिसने अपना स्वत्व ही त्याग दिया, वह क्या पा सकेगी?.... दासी, हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन होकर वह जीवित न रहेगी।"[८]

पृथुसेन जिसके कारण उसका जीवन ही तितर-बितर हो गया, आज स्वयं भिक्षु बनकर अपने द्वारा तोड़ी गयी खिलौना सदृश दिव्या को पुनः बौद्ध धर्म में दीक्षित करना चाहता है। वह कहता है, "देवी तथागत की कृपा से तुमने आसक्ति और मोह के भ्रम को जानने का अवसर पाया'है। देवी शान्ति वैभव में नहीं, शान्ति प्रभुता में नहीं, शान्ति भोग में नहीं, शान्ति तृप्ति में नहीं। देवी शान्ति केवल अनासक्ति में है। चिरंतन सुख केवल निर्वाण में है। देवी संसार के पीड़ित समाज से प्रताड़ित जन बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में शांति पाते हैं। देवी, इस अपार करुणा की शरण ग्रहण करो!" देवी 'दिव्या' पर उसके इस कथन का कोई विशेष प्रभाव न पड़ा किन्तु उसका प्रेम मानो पुनः उसी रूप में उस कल्पित संसार में पुनः एक बार जाने को बाध्य हुआ, किन्तु दिव्या ने संयम बरतते हुये, संयमित ढ़ंग से प्रश्न किया, जिसमें उनका उत्तर समाहित था, "भन्ते, भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है?"[१०] भिक्षु ने धीर स्वर में उत्तर दिया, "देवी, भिक्षु का धर्म निर्वाण में है नारी प्रवृत्ति काम मार्ग है। भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है।" इस पर दिव्या ने शालीनता के साथ कहा, "नारी का धर्म निर्वाण नहीं, सृष्टि है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें।" इस प्रकार प्रतीत होता है कि मानो यशपाल सनातन धर्म एवं बौद्ध धर्म में नारी का स्थान सुनिश्चित करने की प्रक्रिया में हों। एक असंगति उस समय दिखायी है जब पृथुसेन बात बौद्ध धर्म एवं उससे जुड़ी हुई प्रक्रियाओं की करता है एवं दिव्या का उत्तर भिक्षु के व्यक्तिगत जीवन से लिया जाता है। ध्यातव्य है कि जहाँ सनातन धर्म में नारी की इयत्ता का पूर्ण सम्मान शास्त्रों मे वर्णित है, वहीं बौद्ध धर्म में नारी का प्रवेश इतिहास सिद्ध है। मारिश जो यर्थाथवादी है। उसके पास नारी को देने के लिये आसन नहीं है। "मिथ्या सुख का आश्वासन नहीं दे सकता किन्तु अनुभूति एवं विचार की उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। यह संसार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक है। इस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है।। वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति दे सकता है।" आगे वह कहता है कि "सन्तति की परम्परा के रूप में मानव को अमरता दे सकता है।"[११]

यह शायद आधुनिक नारी के लिये सर्वस्वीकृत मार्ग है, जहाँ उसे स्वत्व मिल सकता है, जीवन के सुख दुख का साथी मिल सकता है और बंधुता का भाव भी। नारी सर्जक है और इस रूप में उसकी इयत्ता का सम्मान करने वाला राजमहलों

में रहने वाले रुद्रधीर या कुटियों में रहने वाले भिक्षु पृथुसेन नहीं बल्कि मेहनतकश मारिश ही अच्छा साथी हो सकता है। "आश्रय दो आर्य" कह दिव्या यथार्थवाद की शरण में स्वयं को समर्पित कर देती है।

नारी के स्वत्व की रक्षा, उसमें स्वतंत्रता का भाव बौद्धकालीन युग में देखना यशपाल के साहित्य के लिये नवीन खोज है। 'दिव्या' का आरंभ जहाँ नारी के सम्मान एवं उसके निश्चल प्रेम से होता है, वहीं उसका सम्मान ठोकरों से मजबूत हुई परिपक्व नारी के यथार्थ में समर्पण से होता है। 'दिव्या' निश्चित ही यशपाल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से एक है, जहाँ एक पात्र के माध्यम से सामाजिक आधारों की खोज हुई है।

❑

भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली- ११००६७

सन्दर्भ

१. दिव्या (प्राक्कथन) लेखक- यशपाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण २०००। २. 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका'- प्रो० मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा ग्राम अकादमी, चंडीगढ़। ३. वही। ४. दिव्या (प्राक्कथन) लेखक- यशपाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण २०००। ५. वही, पृ० १९४। ६. वही, पृ० १९६। ७. वही, पृ० १९४। ८. वही, पृ० १९९। ९. वही, पृ० २००। १०. वही, पृ० २००। ११. वही, पृ० २०१।

साम्प्रदायिकता के सन्दर्भ में 'झूठा सच'

●●

श्री कालीचरण झा

३ दिसम्बर १९०३ को फिरोजपुर छावनी में जन्में यशपाल का साहित्य सन् १९३० से लेकर १९७४ तक के भारत के सामाजिक, ऐतिहासिक एवं राजनैतिक स्थितियों का गवाह है जिसमें पुरातन काल की व्याप्ति भी है। यशपाल के विपुल कथा साहित्य में उपन्यास विधा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यशपाल के कतिपय विशिष्ट एवं प्रतिनिधि उपन्यास कुछ इस प्रकार हैं- 'दादा कामरेड' (१९४१), 'देशद्रोही' (१९४३), 'दिव्या' (१९४५), 'मनुष्य के रूप' (१९४९), 'झूठा-सच' (भाग-१, १९५८; भाग-२, १९६०), 'तेरी मेरी उसकी बात', इसके साथ ही कुछ अन्य उपन्यास हैं- 'पार्टी कामरेड' (१९४६), 'अमिता' (१९५६), 'बारह घण्टे' (१९६२), 'अप्सरा का शाप' (१९६५) और 'क्यों फँसे' (१९६८)। देश के विभाजन को केन्द्र में रखकर लिखा गया 'झूठा सच' उपन्यास हिन्दी कथा साहित्य को यशपाल की एक महत्त्वपूर्ण देन है। इस उपन्यास में हमारे निकट अतीत के इतिहास तथा समाज को जितने विस्तार एवम् जितनी सच्चाई के साथ प्रस्तुत किया गया है वह प्रायः कम दिखाई पड़ता है। विभाजन के समय का राजनीतिक घटनाक्रम ही नहीं वरन् सामाजिक जीवन भी उपन्यास में बड़ी सफाई के साथ अंकित हुआ है।[1]

साम्प्रदायिकता को लेकर हिन्दी में अनेक उपन्यास लिखे गये। गुरुदत्त, चतुरसेन आदि कुछ ऐसे रचनाकार हैं जिनकी रचनाओं (उपन्यासों) में सीधे-सीधे साम्प्रदायिकता

दिखाई देती है। जबकि भगवतीचरण वर्मा के यहाँ यद्यपि साम्प्रदायिकता सीधे-सीधे नहीं है पर पात्रों की परिणति जिस तरह है उससे लगता है कि वर्माजी की कुछ निश्चित तरह की आस्था है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या साम्प्रदायिकता अतीत की देन है? इसका उत्तर पाते हुये हम देखते हैं कि यह सच है कि मध्यकाल में मुसलमान एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक और धार्मिक दर्शन लेकर यहाँ आये थे। मुसलमान शासकों ने अपने सिद्वान्त स्थापित किये और यहाँ शासन किया। इतिहास में जाकर जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि मध्यकाल में साम्प्रदायिकता का विकास नहीं हुआ। हिन्दू जनता ने मुसलमान शासकों के क्रियाकलाप को एक शासक के अत्याचार के रूप में देखा। वस्तुतः उस समय साम्प्रदायिकता का स्वरूप राष्ट्रवाद के साथ ही आता है और कहना न होगा कि उस समय अंग्रेजों का शासन यहाँ कायम था। कहने का तात्पर्य यह है कि साम्प्रदायिकता अतीत की नहीं वरन वर्तमान की देन है और जिसकी अंतिम परिणति भारत विभाजन में होती है।

अंग्रेजों की नीति, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों जैसे कारणों को लेकर अलग-अलग उपन्यासकारों ने अलग-अलग काल की सामाजिक समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाई है। यशपाल से पूर्व प्रेमचन्द्र की रचनाओं में इन समस्याओं के स्वरूप को देखा जा सकता है। यशपाल पूरी तरह से मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्यकार है। उन्होंने यथार्थ को हूबहू अपनाने की कोशिश की है। वे अपने समय के यथार्थ से टकराते हैं। साम्प्रदायिक समस्याओं और देश-विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखा गया यशपाल का यह वृहदाकार उपन्यास 'झूठा-सच' स्वतंत्रता के बाद लिखे गये उपन्यासों में सर्वाधिक चर्चित है। विशाल कलेवर का यह उपन्यास अपने दो खण्डों 'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य' में सन् १९४२ से सन् १९५७ ई० तक के कालखण्ड को समेटे हुए हैं। अर्थात यशपाल आर्थिक मंदी से लेकर भारत-चीन युद्व से कुछ पहले तक के कालखण्ड को अपनी रचना का विषय बनाते हैं।

उपन्यासकार यशपाल देश-विभाजन और तत्कालीन समस्याओं को उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और वैयक्तिक समग्रता में देखने की कोशिश करते हैं। यशपाल लिखते हैं 'झूठा-सच' के दोनों भागों 'वतन और देश' और 'देश का भविष्य' में देश के सामाजिक और राजनैतिक वातावरण को यथासंभव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में चित्रित करने का यत्न किया है। उपन्यास के वातावरण को ऐतिहासिक यथार्थ का रूप देने और विश्वसनीय बना सकने के

लिये कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम भी आ गये हैं परन्तु उपन्यास में वे ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं, उपन्यास के पात्र हैं।"[२] उपन्यास के पहले खण्ड 'वतन और देश' में भोलापांधे की गली और लाहौर की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक जिंदगी तथा विभाजन के साथ ही उसके टूटने-बिखरने और चूर-चूर हो जाने का वर्णन है। उपन्यास को कथानक के आरंभ लाहौर को इसी गली भोलापांधे से होती है। वास्तव में लाहौर की इस भोलापांधे को गली को उठाकर यशपाल इसे पूरे भारत में फैला देते हैं। यशपाल साम्प्रदायिक चेतना को जनसमुदाय की मानसिक जड़ता और विवेकहीनता से जोड़ते हैं। जो समाज जड़ हो गया है उसमें साम्प्रदायिकता का प्रवेश असानी से हो सकता है। यह बात लाहौर के भोलापांधे की गली से लेकर उपन्यास के अन्य भागों में भी दिखाई देती है।

देश-विभाजन से पूर्व तत्कालीन परिवेश में सामान्य घटनाओं को भी रंग देकर साम्प्रदायिक चेतना फैलाई गयी। साम्प्रदायिकता की आग दोनों ओर से लगाई गयी। डॉ० प्राण को असद द्वारा दिया गया वक्तव्य (पृ० ३८) एवं ईश्वर और ज्ञानदेवी द्वारा दिया गया मुहल्लों के मासूम लोगों के मध्य दिया गया वक्तव्य इस बात के प्रमाण हैं। लेकिन इतना सच है कि साम्प्रदायिकता की आग में मरने वाले अधिकतर गरीब लोग ही होते हैं। तत्कालीन परिवेश के अनुसार तो यह दंगा साम्प्रदायिक ही था जिसके मूल में धार्मिक घृणा और बदले की भावना कार्य कर रही थी किन्तु इसके तार कहीं न कहीं आर्थिक कारणों से भी जुड़े थे। ड्राइवर का यह कथन इसी ओर संकेत करता है "बहिन जी, सच ही मुसलमानों ने हिन्दूओं को कहा.... एक ही जमीन पर रहने वालों में अमीरी-गरीबी का इतना फर्क क्यों होता? पंजाब की सारी जायदाद हिन्दुओं के हाथ चली जाती, क्यों? गरीब पहले गुस्से में मुसलमान हुआ। दूसरा गुस्सा मज़हब का है, पर गरीबी का भी है बहिन जी।[३]

साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में राजनीतिक दल भी पीछे नहीं रहते। मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा का इस समय में उदय इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। दोनों पार्टियाँ अपनी-अपनी रोटी सेंकने के क्रम में है उनके द्वारा दिया गया वक्तव्य तथा उनकी गतिविधियाँ आग में घी का काम करती हैं। वस्तुतः राजनीतिक दलों द्वारा फैलाये गये दंगे का शिकार दौलू मामा जैसे लाखों निरपराध लोग होते हैं। राजनीतिक दलों के इस नब्ज को यशपाल पूरी तरह पकड़ते हैं और उपन्यास में उनकी पोल खोलने में कोई कसर नहीं छोड़ते।

१५ अगस्त १९४७, को स्वतंत्रता मिली। सभी मकानों पर हरे झंडे फहराये

न झंडों की बड़ी संख्या ने उनके लाहौर और पंजाब को दूसरा
साम्प्रदायिक दंगो और धर्म के आधार पर देश-विभाजन में
म्बना चित्रित हुई है। दोनों सम्प्रदायों द्वारा की गयी हिंसा, लूट,
साथ दुर्व्यवहार आदि मानवीय रिश्ते-नातों के अवरूप को
धरती जो एक क्षण पहले तक एक जाति के लोगों की मातृभूमि
सरी जाति की भूमि बन जाती है। इन्द्रनाथ मदान का यह कहना
कि उपन्यास एक असाधारण घटना की कहानी है, एक भूचाल
मानवता में छिपी पाशविकता की गाथा है। देश दूसरा मिल
न नहीं। एक बड़ी विडम्बना यह भी थी कि दोनों ओर ऐसे व्यक्ति
मानुस, सुसभ्य और साम्प्रदायिक वैमनस्य के कड़े विरोधी थे
कत्लेआम, आगजनी, नृशंस अत्याचार, विभाजन आदि सब
घाट उतार देने की आदिम हवस सभी रिश्ते-नातों को मर्दित
त्पन्न करती है जो अपने विद्रूप में नाटकीय है। वस्तुतः यह
कलंक है।

न के बाद बढ़ते हिन्दू साम्प्रदायिकता की ओर भी यशपाल
ाम्प्रदायिकता और देश विभाजन के पश्चात शरणार्थियों की
ने आती है। यह समस्या एक तरह से राजनीतिक समस्या के
। 'हिन्दुओं को खासकर पश्चिम से आये हिन्दुओं को मुसलमानों
ों सुहा रही थी। वे पश्चिम में हिन्दुओं पर भयंकर अत्याचार
ने वतन से निकाल देने वाले सम्प्रदाय के लोगों को अपनी दाती
ते। उन्हें उनके मकानों की जरूरत थी। कांग्रेसियों, कम्युनिस्टों
प्रयत्न करने पर भी मुस्लिम मोहल्लों पर बार-बार हमले हो रहे
सा लगता है कि उनके साम्प्रदायिक उन्माद का कारण मात्र
न था बल्कि आर्थिक स्वार्थ भी था और इसको जल एवं वायु
की मिलीभगत से प्राप्त होता है।

ोने के बावजूद यशपाल 'देश का भविष्य' जनता के हाथ में
धीनता के पश्चात भ्रष्ट होती जा रही राजनीति उन्होंने देखी।
ो राजनीति के परिणामस्वरूप ही अधिकांश लोग दर-दर की
तक कि जो व्यक्ति स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान जेल गया,
ब आराम की जिंदगी चाहने लगा है, "भूखे रहते थे, जेल

काटते थे, तभी तक भले थे। क्या कहते हैं कुर्सी पर बैठते ही दिमाग बिगड़ गया। कुत्ते को घी थोड़े ही पचता है।"[५] इस तरह यशपाल साम्प्रदायिकता की जड़ में जाकर उसके कारणों और परिणामों को आमने-सामने रख 'देश का भविष्य' आम जनता के हाथों में देखते हैं। यह यशपाल जैसे समर्थ जनवादी रचनाकार के कलम का जादू हो सकता है।

❑

ए-३३६, भगतसिंह गली
मण्डावली, दिल्ली
पिन- २११००२

सन्दर्भः

१. प्रकाश चन्द्र मिश्र, 'यशपाल का कथा साहित्य' पृ० १०७। २. 'झूठा-सच' वक्तव्य से। ३. 'झूठा-सच' वक्तव्य से। ४. 'झूठा-सच' वक्तव्य से। ५. 'झूठा-सच' वक्तव्य से।

यशपाल के कथा साहित्य में व्यंग्य

●●

श्री कमलेश सिंह

समाज में व्याप्त विसंगति तथा अन्तर्विरोध को देखकर जब प्रबुद्ध व्यक्ति उसका परिष्कार कर सकने में अपने को असमर्थ पाता है तो व्यंग्य करता है। साहित्यिक-धरातल पर व्यंग्य की अवधारणा विकृति के विरोध में उभरी अभिव्यक्ति के रूप में होती है। "व्यंग्य मूलतः एक सुशिक्षित मस्तिष्क के प्रयोज़न की विधा है। यह एक प्रहारात्मक हथियार है, जिसका उद्देश्य विसंगतियों को न केवल उद्घाटित करना है अपितु उन पर सृजनात्मक एवं सार्थक दिशायुक्त आक्रमण करना भी है। व्यंग्य मूलतः हृदय की भावुकता को उभारने के स्थान पर समाज के महत्त्वपूर्ण विषयों पर सोचने को बाध्य करता है। व्यंग्य एक सोद्देश्य रचना है जो नैतिकता एवं सामाजिक यथार्थ के साथ गहराई में जुड़ा होता है और पाठक को सही सामाजिक परिवर्तन की ओर अग्रसर करता है।"[1] अर्थात व्यंग्य विसंगति से उत्पन्न होता है तथा विसंगति पर प्रहार करना व्यंग्य का कार्य है।

व्यंग्य को एक विद्या के रूप में पहचान २०वीं शताब्दी में मिली। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा भारतेन्दु युग से व्यंग्य की शुरूआत मानी जाती है। यशपाल मौलिक रुप से व्यंग्य लेखक नहीं थे लेकिन समाज में व्याप्त विसंगतियों को देखकर आक्रोश स्वरूप अपने साहित्य में व्यंग्य का प्रयोग किया। भारन्तेन्दु काल के बाद प्रेमचन्द, निराला तथा उग्र ने हिन्दी व्यंग्य-परम्परा को मजबूती प्रदान की थी। इसके बाद नागार्जुन, नागर जी, माचवे, रेणु जी, भगवतीचरण वर्मा के साथ यशपाल

ने हिन्दी व्यंग्य की नींव को दृढ़ता प्रदान की। इस दृढ़ नींव पर हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी तथा श्रीलाल शुक्ल की व्यंग्य चौकड़ी ने मजबूत तथा भव्य व्यंग्य इमारत का निर्माण किया, जिसके फलस्वरुप हिन्दी-साहित्य में व्यंग्य को क्षत्रिय का दर्जा मिला।

व्यंग्य सदा ही सामाजवादी विचारधारा के लेखकों के बीच सामाजिक यथार्थ के चित्रण के सशक्त माध्यम के रुप में स्वीकार किया जाता रहा है। यशपाल मूलतः सामाजवादी-विचारधारा से प्रभावित थे इसलिये समाज तथा देश में व्याप्त विभिन्न असमानताओं से क्षुब्ध थे। इनकी यह क्षुब्धता किसी एक वाक्य या शब्द में प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ती है बल्कि व्यंग्य के माध्यम से सम्पूर्ण प्रसंग में आती है अर्थात यशपाल का व्यंग्य विषयगत तथा चरित्रगत होता था। यशपाल को जो बातें पसन्द नहीं थी, उनका वर्णन वे इस प्रकार करते थे कि वह व्यंग्यात्मक भाषा में सामने आता था, यशपाल के गद्य-साहित्य की यही खूबी थी। व्यंग्य का साहित्य में प्रयोग के लिये सधे हाथों की जरुरत होती है क्योंकि खतरा यह रहता है कि कहीं व्यंग्य मनोरंजन का साधन न बन जाये। यशपाल ने इस संबंध में सावधानी बरती है। यशपाल के व्यंग्य अपनी पूरी क्षमता के साथ विकसित हैं। "यशपाल के व्यंग्य तेज और लक्ष्य पर चोट करने वाले हैं। इन व्यंग्यों का आश्रय लेकर उन्होंने देश और समाज के प्रगतिशील अभियान में बाधक व्यक्ति, वर्ग एवं संस्थानों पर निर्मम प्रहार किये हैं। उनके व्यंग्य ऐसे दर्पण बन कर सामने आये हैं जिनमें मनुष्य तथा समाज के शत्रु अपनी शक्लें देख सकते हैं।"[२] यशपाल के कथा-साहित्य के अध्ययन के बाद मालूम होता है कि उन्होंने अन्तर्विरोध, विसंगतियों, शोषण, सामाजिक विकृतियों, परम्परागत जर्जर नैतिक मान्यतायें, राजनीतिक छल-छदम् जैसे मुद्दों पर व्यंग्य किया है। इन व्यंग्यों में यशपाल की दृष्टि ध्वंसात्मक न होकर रचनात्मक होती है जो नई व्यवस्था के निर्माण की तरफ संकेत करती है।

यशपाल मौलिक रूप से व्यंग्यकार नहीं थे लेकिन अपने कथा-साहित्य में व्यंग्य का सधा प्रयोग किया। यशपाल का प्रत्येक उपन्यास उनके व्यंग्य की क्षमता को उद्घाटित करता है। 'दादा कामरेड', 'दिव्या', 'झूठा-सच', 'तेरी मेरी उसकी बात' उपन्यासों में यशपाल के श्रेष्ठ व्यंग्यकार रूप को देखा जा सकता है। 'दिव्या' में एक ऐतिहासिक वृत्त का सहारा लेकर सड़ी-गली तमाम अन्धविश्वासों-पूर्वग्रहों पर प्रहार किया है। इस उपन्यास में यशपाल ने नारी की अस्मिता, उसकी व्यैक्तिकता, उसकी निजता तथा सम्मान को व्यंग्यात्मक लहजे में दर्शाया है। इसी संदर्भ में तथाकथित समाजनीति, धर्मनीति तथा राजनीति पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया है। 'झूठा-सच' विभाजन के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती साम्प्रदायिक माहौल का विश्लेषण

करता है। इसके माध्यम से यशपाल ने देश-विभाजन के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक एवं वैक्तिक कारणों की पड़ताल की है। इसी क्रम में यशपाल ने परम्परावाद की जड़ता पर व्यंग्य किया है। रामज्वाया की वृद्धा माँ के मरने के बाद लोगों को प्रसन्न होना चाहिये लेकिन रीति-रिवाज पालन हेतु विलाप करना क्या जरुरी है? यशपाल यहाँ पर व्यंग्य करते हैं। इस परम्परा निर्वाह मे समाज की जड़ता और अविवेक के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यशपाल ने इस अन्धी परम्परा मोह पर व्यंग्य किया है। यथा- "स्यापे में स्त्रियों के हाथ एक ताल से धप-धप छातियों पर पड़ने लगे। नाउन वेदना में कुरलाते स्वरों से विलाप के बोल बोलती थी और स्त्रियाँ एक स्वरों में 'हाया-हाया, हाया-हाया' पुकारती दोनों हाथों से एक साथ छाती पीटती जाती थी। रीति के इस विलाप पर पीटने में एक सुनिश्चित क्रम था। स्त्रियों के हाथ कभी छातियों पर पड़ते थे। ..... आँखे मूँदकर अथवा दीवार की ओर से सुनने पर स्त्रियों के छाती पीटने का सम्मिलित स्वर इस प्रकार बँधा हुआ जान पड़ता था मानो मैदान मे बहुत सधे हुये सिपाही मार्च, मार्क, टाइम और विवेक मार्च कर रहे हों। किसी स्त्री के बेमेल हो जाने पर नाउन उसे संगत से उठा दे सकती है।"[3] परम्परा की जड़ता पर इतना सधा व्यंग्य यशपाल की व्यंग्य क्षमता का अप्रतिम उदाहरण है। केवल तीक्ष्ण व्यंग्य का ही यशपाल ने प्रयोग नहीं किया है बल्कि व्यंगय को हास्य-विनोद के रूप में भी प्रस्तुत किया है। यथा-

-सुन तो, अख्तर ने हरीश को सम्बोधन कर पूछा, सोयेगा भी यहीं?

-और कहाँ जाऊँगा अब? हरीश ने उत्तर दिया।

-मरे तब तो जाड़े में! रजाई तो एक ही है और वह भी फटी हुई। हम दोनों तो किसी तरह गुजर कर लेते हैं, अब...

-फिटे मुँह (छिः छिः) हाथ फटकार कर जमीला ने कहा, "जरा भी तो शरम नहीं रही।" और मुँह ढंक लिया। हँसकर हरीश ने काह, "तू अपना गुजारा कर! मैं तेरा यह कम्बल लेकर रहूँगा।"

-"यह भी कोई कम्बल है.... भूसा बाँधने लायक भी नहीं है।" कम्बल की ओर इशारा कर उसने कहा, "बता फिर जमीला?"

-तुम दोनों अपना गुजारा करो, मेरी फिक्र छोड़ो" मुँह फिराकर हरीश ने उत्तर दिया।

-"आज तो मारा तेरे देवर ने" घुटने हिलाते हुये अख्तर ने कहा।

उपरोक्त वार्तालाप से पता चलता है कि अख्तर तथा जमीला के टूटते दाम्पत्य जीवन को जोड़ने के लिये हरीश की अवतारणा की। यहाँ पर यशपाल न कोई चमत्कार किया तथा न कोई उपदेश दिया बल्कि इन दोनों के संबंधों की पुनः

बहाली के लिये हास्य-विनोद के रूप में हरीश की अवतारणा की। यह यशपाल की योग्यता का प्रमाण है कि हास्य-विनोद को मात्र मनोरंजन नहीं बनने दिया बल्कि उद्देश्यपूर्ण बनाया। यह उदाहरण उन लोगों के आरोपों का उत्तर है कि यशपाल व्यंग्य का तीक्ष्ण रूप ही प्रस्तुत करते हैं।

कहानियों में यशपाल की व्यंग्य-दृष्टि ज्यादा समस्या केन्द्रित, सजीव तथा मारक है। 'महादान', 'परदा', 'गण्डेरी', 'हलाल का टुकडा', 'खच्चर और आदमी', 'अपनी चीज', 'वान हिन्डन वर्ग', 'खुदा की मदद' आदि कहानियों में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक विसंगतियों पर मर्मभेदी व्यंग्य किये गये हैं। जो हमें अन्दर तक आन्दोलित करती हैं। यशपाल का सम्पूर्ण साहित्य नारी-मुक्ति की पक्षता का गवाह है। 'यशपाल' की 'अपनी चीज' कहानी उन लोगों पर व्यंग्य है जो नारी को व्यक्ति न मानकर वस्तु मानते हैं। इसी तरह 'पाँव तेल की डार' कहानी में नारी को भोग्या के रूप में अंकित कर सामाजिक रूढ़ि पर कड़ा व्यंग्य कसा गया है। 'खुदा की मदद' कहानी में धार्मिक अन्धविश्वासों पर कड़वी-मीठी चोटें की गयी है। 'धर्म रक्षा' कहानी में कुण्ठित सेक्स को व्यंग्य की दृष्टि से आंका गया है। इसी कहानी पर आर्य समाज ने विरोध दर्ज कराया था। समाज को अपनी कहानियों में सर्जना की, वे सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों की बखिया उधेड़कर रख देते हैं। शोषण-प्रक्रिया पर तीव्र व्यंग्यात्मक प्रहार यशपाल ने किया है। "मनुष्य को आत्म-निर्णय का अवसर और अधिकार है, परन्तु ऐसा कर सकने के लिये समाज के रक्त को मुनाफा बनाकर पूरा लेने वाले कीड़ों से दूर करना होगा।[५] आजादी के बाद अन्तर्विरोधी माहौल पर यशपाल ने 'इस टोपी को सलाम', 'जन गण मन अधिनायक जय हो', 'प्रधानमंत्री की भेंट' आदि कहानियों में शासन की विसंगतियों पर व्यंग्य किया है। इस प्रकार हम यशपाल की कहानियों का उद्देश्य समाज का सुधार, व्यक्ति का परिष्कार और जीवन का संशोधन मान सकते हैं। दूसरी ओर उनके व्यंग्य का स्वरूप सुधारवादी है।

यशपाल ने कथा साहित्य में ही नहीं बल्कि अपने विभिन्न प्रकार के निबन्धों में भी व्यंग्य का प्रयोग किया है। यशपाल ने 'चक्कर-क्लब' तथा 'बात बात में' नामक शीर्षक हास्य व्यंग्य निबन्ध भी लिखे। इसमें उनकी व्यंग्य क्षमता का ज्ञान होता है। 'सार्थक और सप्राण व्यंग्य सृष्टि'[६] में यशपाल आधुनिक कथाकारों में अग्रणी हैं और इसी के बल पर उन्होंने अपनी प्रतिबद्धता को भी सार्थक किया है। "लेखक के पास व्यंग्य का पैना अस्त्र है जो चारों ओर के जाल को काट कर नारी को रूढ़ियों से छुटकारा दिलाना चाहता है। इसका इस्तेमाल यशपाल बिना किसी झिझक के करते हैं। यशपाल की बुद्धि निश्चयात्मक

है। इसलिये यशपाल के व्यंग्य का स्वरूप सपाट है वह सीधी मार करता है, लक्षणा, व्यंजना का सहारा नहीं लेता।"[७]

इस प्रकार यशपाल भारतेन्दु, प्रेमचन्द्र तथा निराला की परम्परा को आगे बढ़ा करके हिन्दी-व्यंग्य-साहित्य को सम्पन्न बनाते हैं।

❑

६ए, कटरा रोड

इलाहाबाद- २११००२

सन्दर्भ-

१. व्यंग्य रचनायें- डॉ० प्रेम जनमेजय, पृ० ५। २. 'यशपाल का कथा साहित्य'- डॉ० प्रकाशचन्द्र मिश्र, पृ० २०४। ३. 'झूठा-सच', 'वतन और देश', पृ० ११-१२। ४. 'दादा कामरेड', पृ० ६९। ५. 'वो दुनिया', पृ० ११९। ६. 'यशपाल का कथा साहित्य'- डॉ० प्रकाश चन्द्र मिश्र, पृ० २०४। ७. 'हिन्दी की हास्य व्यंग्य विधा का स्वरुप और विकास'- डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ३४।

यशपाल के उपन्यासों में प्रेम के विविध स्वरूप

श्री अजय कुमार पाण्डेय

सहज आर्कषर्ण के कारण स्त्री-पुरूष में प्रेम की धारणा बलवती है। यशपाल के विचार में स्त्री पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त होने के पश्चात भी परम्परागत आदर्शों तथा आदर्शों से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पायी है। यही कारण है कि यशपाल ने अपनी रचनाओं में प्रेम संबंधी सामाजिक धारणा को बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया है। उनकी सशक्त धारणा थी कि अगर स्त्री-पुरूष का सम्बन्ध नैसर्गिक है तो समाज द्वारा बनाये नैतिक बन्धनों द्वारा उसे कैसे बाँधा जा सकता है? नैतिक बन्धनों के कारण व्यक्ति के अन्दर मानसिक कुण्ठा का जन्म होता है, जो कि एक सामाजिक बुराई का रूप ग्रहण कर लेता है।

यशपाल प्रेम को जीवन की परस्पर संतुष्टि की भावना के रूप में देखते हैं। उनके विचार से संतुष्टि तथा आश्रय (दोनों से) से स्त्री-पुरूष के मन में प्रेम का बीज पनपने लगता है। यशपाल ने 'देशद्रोही' में डॉ० खन्ना के मुँह से कहलवाया है कि "राज मुझे नहीं, मुझसे मिलने वाले संतोष से प्रेम करती थी, जिस पर वह जीवन की प्रत्येक बात के लिए निर्भर थी, जिसके बिना जीवन संभव नहीं था। मैं जैसे राज से प्रेम करता था वैसे ही किसी दूसरी स्त्री से भी कर सकता हूँ। राज भी, तो कोई भी उसका पति होता उसी से प्रेम करती।" यशपाल के पात्र स्त्री के शरीर को प्रेम का साधन स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार नारी के शरीर पर केवल एक पुरुष का अधिकार क्यों हो? उसको भी अपने व्यक्तित्व को निर्मित्त करने का अधिकार हो, उसकी सन्तुष्टि का

भी महत्त्व होना चाहिये। 'देशद्रोही' ही में डॉ० खन्ना कहते हैं, "शरीर तो केवल साधन मात्र है, उसे तो अच्छे-बुरे सभी स्पर्श होते हैं.... ना मैं यह विश्वास करता हूँ कि स्त्री को एक ही व्यक्ति के उपयोग की वस्तु बनाकर सुरक्षित रख लेना ही आचार-निष्ठा का सबसे बड़ा आदर्श है। पुरुष की वंश परम्परा की रक्षा के लिये सन्तानोत्पत्ति का साधन होने के अतिरिक्त स्त्री का अपना व्यक्तित्व और सन्तोष भी कोई चीज है। अपनी बात को और अधिक जोरदार ढंग से उन्होंने 'बारह घण्टे' में कहा है "प्रेम अन्तरतम आवश्यकता की परस्पर पूर्ति का सम्बन्ध है।" यशपाल प्रेम के सम्बन्ध में जहाँ स्त्री की सहभागिता और सन्तुष्टि को महत्त्व देते हैं वहीं इस तथ्य को भी अपनी रचनाओं में पूरी तल्खी से उठाया है कि "प्रेम जीवन की मांग होता है और प्रेम पात्र उस मांग को पूरा करता है। प्रेम पात्र कोई भी व्यक्ति हो सकता है। प्रेम पात्र का प्रेम का उन्मेष पूरा कर सकने के कारण ही अच्छा या प्यारा लगता है। (बारह घंटे- पृ० ११८) लारेंस के माध्यम से यशपाल जीवन की दो आवश्यकताओं की तरफ इशारा करते हैं। एक प्रेम की उदात्तता, दूसरी कामभावना, इन दोनों का संयोग ही प्रेम की सफलता एवं महत्त्व को रेखांकित कराता है, एक के अभाव में प्रेम की आनन्दानुभूति नहीं हो सकती है और नाहीं आत्मसन्तुष्टि प्राप्त होगी, यशपाल के उपन्यासों में स्त्री-पुरूष दोनों इसी भाव के परिप्रेक्ष्य में प्रेम की गंगा में स्नान करते हुये दिखलायी पड़ते हैं। 'दादा कामरेड' में शैल समुचित प्रेम के प्रति विद्रोह की भावना रखती है इसी कारण से वह एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे पुरुष को अपने सेक्स की संतुष्टि का साधन बनाती है। वह प्रेम मार्ग में किसी प्रकार की बंदिश को बर्दास्त नहीं करती है। लेकिन यहीं सुरेश सिन्हा कुछ दूसरे ही विचार रखते हैं। प्रेम में जब प्राप्य की इच्छा होती है तो वह स्वार्थ बन जाता है। प्रेम में होती है पवित्रता और उसके साथ ही होता है परस्पर विश्वास। पर जहाँ प्रेम में वासना या शारीरिक सम्बन्ध की इच्छा आ जाती है। वहीं प्रेम नीचे गिर जाता है। यशपाल की आलोचना करते हुये त्रिभुवन सिंह ने 'हिन्दी उपन्यास और यर्थाथवाद' में कहा है कि "यशपाल की दृष्टि में नारी वह हमाल है जिससे जितने आदमी अपना मुँह पोंछ सके, पोंछ सकते हैं। उससे कालिख छूटेगी ही, लगेगी नहीं।'

'मनुष्य के रूप' में सीमा वासना की अपेक्षा आश्रय की चाहत रखती है इस क्रम में वह धनसिंह, जगदीश, सरोला तथा सुतलीवाला से प्रेम का व्यवहार करती है। एक को छोडने और दूसरे को अपनाने में उसे कहीं भी मानसिक पीड़ा नहीं होती है। इसी क्रम में 'झूठा-सच' का गिल कनक के साथ विवाह पूर्व ही स्वच्छन्द भोग की इच्छा रखता है, प्रेम की तृप्ति करना चाहता है। डॉ० श्यामा,

तारा से सवाल दागती है "तरसना ही क्या प्यार है? प्यार क्या संतोष नहीं चाहता? रक्त माँस का उन्मेष ही सही पर हृदय की परीक्षा करने से तो हृदय में प्यार या मस्तिष्क में विचार रखे हुये नहीं मिलते। प्यार और विचार शरीर के व्यवहार मात्र है।" इस परिप्रेक्ष्य में यशपाल मनुष्य को पशु तुल्य मानते हैं जहाँ विवाह आदि का कोई बन्धन नहीं है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रेरित यशपाल प्रेम में द्वन्दात्मकता देखते हैं। जहाँ भी प्रेम अन्तरतम आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता है, ऐसा प्रेम त्याज्य है। 'मनुष्य के रूप' में भूषण मनोरमा से कहता है "प्रेम तो जीवन में सहायक वस्तु है। जीवन में अड़चन बनकर प्रेम चल नहीं सकता है। प्रेम नित्य जीवन में असह्य स्थिति पैदा करता है तो वह जीवन का बाधक होकर स्वयं समाप्त हो जाता है, उसकी जगह घृणा पैदा हो जाती है।" यशपाल के उपन्यासों में प्रेम में असह्य स्थिति हो गयी। 'झूठा-सच' में कनक और पुरी का प्रेम इसी स्थिति में पहुँच जाता है। 'दादा कामरेड' की शैल विभिन्न पुरुषों से होते हुये सही प्रेमी हरीश को अपनाती है। मनोरमा तथा भूषण का प्रेम भी इसी स्थिति पर आ जाता है। 'मेरी तेरी उसकी बात' में उषा और अमर का प्रेम भी असन्तुलित होकर बिखर जाता है।

यशपाल के उपन्यासों में पात्रों के कथनो से पता चलता है कि प्रेम को स्वाभाविक तथा संयत होना चाहिये। भूषण कहता है, "जल को देखते हो उसमें से उष्णता बिल्कुल निकल जाये तो वह बर्फ बन जाता है, उसमें गति नहीं रहती। उष्णता एक सीमा से अधिक बढ़ जाये तो वह भाप बनकर उड़ जाता है।" 'बारह घण्टे' में विनी और फेंटम का प्रेम इसी प्रकार का है। जहाँ लारेंस परम्परा का खण्डन करते हैं भावना और कपट का हो, तभी वह अनैतिक हो सकता है लेकिन यहाँ विनी और फेंटम का प्रेम परस्पर सहारे अर्थात आश्रय की खोज थी। इसी कारण से लारेंस के माध्यम से यशपाल प्रश्न करते हैं- दुःख की अनुभूति से दूसरे के लिये विह्वलता का अनुभव करना अनैतिकता है। परस्पर सहारा बनना ही प्रेम होता है उसे स्वार्थ और धोखा नहीं कहा जा सकता है।.... क्या निस्वार्थ समर्पण नैतिकता नहीं है।

सारांशतः यशपाल की दृष्टि में प्रेम जीवन का सहायक तत्व है। पूँजीवादी समाज में सौदे का रूप धारण कर लिया है। स्त्री पात्रों की स्थिति पुरुष की बाँहों के बिना दयनीय है। यही कारण है कि यशपाल के सभी उपन्यासों की नारी नारीत्व को सयंमित न करके उसे उतार फेंकने के लिये लालायित रहती है। भारतीय समाज में नारी का अपनी इच्छा के अनुसार प्रेम करना भी अपराध समझा जाता है। यशपाल इसका मूल कारण स्त्री की पराधीनता को ही स्वीकार करते हैं। आर्थिक रूप से सबल स्त्री अपनी हर समस्या का हल निकालने में सक्षम है। तभी

तो 'मनुष्य के रूप' की सीमा जब आत्मनिर्भर नहीं थी तब तो वह वासना की शिकार हो रही थी लेकिन आर्थिक रुप से आत्मनिर्भर होने पर वह सुतलीवाला से विवाह करने का निश्चय करती है। 'झूठा-सच' की उर्मिला भी इच्छानुसार मोंगिया से प्रेम करती है तथा विवाह का निर्णय लेती है।

सभी पात्रों के कथनों की विवेचना से स्पष्ट होता है कि पात्र अपनी व्यक्तिगत कमियों के कारण उसी के अनुरूप व्यवहार करते हैं। दूसरी तरफ सामाजिक व्यवस्था उन्हें समाज के विरूद्ध कार्य करने से रोकती है। तभी तो डॉ० खन्ना कहते हैं स्त्री शरीर एक ही पुरूष के उपयोग की वस्तु नहीं है। स्त्री के अपने व्यक्तित्व और सन्तोष की दुहाई देकर उसे अपना अनुगामी बनाना चाहते हैं परन्तु चन्दा सामाजिक मर्यादाओं को मान्यता देते हुये उनके व्यवहार को मर्यादित रखने की सलाह देती है। डॉ० खन्ना इसके विपरीत नर और मादा के यौन के आर्कषण को प्रेम मान बैठे हैं और पशुओं की भाँति स्वच्छन्द यौन सम्बन्ध की वकालत कर बैठते हैं। सहज आकर्षण के पश्चात स्त्री-पुरूष आदि में प्रेम की धारणा अदभुत होती है। यशपाल के अनुसार स्त्री की स्थिति उस तोते जैसी है 'स्वतन्त्रता सब कुछ है' का उच्चारण करता है लेकिन मुक्त करने पर अपने को पुनः पिंजरे के अन्दर बन्द करता है। यशपाल जी की मान्यता है कि अगर स्त्री-पुरुष का प्रेम प्रकृति जन्य है तो उसे समाज द्वारा कैसे बन्धन में बाँधा जा सकता है।

❑

२४३, नया ममफोर्डगंज
इलाहाबाद-१

यशपाल के उपन्यासों में पात्रों की परिकल्पना

●●

डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव

यशपाल बुनियादी तौर पर रोमांटिक वृत्ति के लेखक हैं, जो स्त्री-पुरुष के उन्मुक्त प्रेम का भावुक व काल्पनिक वर्णन करते हैं। उनकी राजनीतिक कथायें परिधि पर रहती हैं। इसी कारण डॉ० रामविलास शर्मा उनकी आलोचना में कहते हैं- "यशपाल के नायक भी आत्मपीड़ा के शिकार हैं। उनका उच्चतर उद्देश्य नारी की करुणा हासिल करना है। यह अभिनय यशपाल के प्रतिनिधि नहीं है। वे उस वर्ग के लोग हैं जिनके लिये सेक्स और आत्मपीड़ा की समस्यायें प्रधान हैं। इसलिये उनके साथ गलत या सही राजनीति जोड़ देने से ही वे प्रगतिशील नहीं हो जाते.... यशपाल अपने साहित्य में रूढ़िवाद से लड़ने वाली दृढ़ नारी का चरित्र नहीं दे पाते, कारण कि उनके प्रति उनका दृष्टिकोण सामंती-पूँजीवादी भोगवादियों का है। इस भोगवाद को उन्होंने किसान का रूप देने की कोशिश की है।" डॉ० शर्मा की यह आलोचना यशपाल के वैचारिक स्तर पर ही केन्द्रित है। वस्तुतः उनके उपन्यास इस कारण कमजोर हैं कि वे मानवीय अनुभवों की कथा न कहकर अपनी कल्पना और आकांक्षा की कहानियाँ गढ़ने लगते हैं। उनका प्रयास यथार्थ के प्रत्यक्ष चित्रण की ओर है, लेकिन उनके चित्रित यथार्थ से वे जिन सम्भावनाओं की ओर जाते हैं- जिन कल्पनात्मक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का संकेत देना चाहते हैं- उनके लिये कोई आधार नहीं देते। स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील और संघर्षशील स्त्रियों का उनका नियन्त्रण बहुत प्रभावशाली नहीं होता क्योंकि वे सैद्धान्तिक मूर्तियाँ गढ़ने लगते हैं।

'दादा कामरेड' की शैल के चित्रण में अन्तरंग असंगतियाँ हैं। एक ओर वह अच्छा लगने वाले हर आदमी को समर्पित हो जाती है और दूसरी ओर हरीश के प्रति समर्पण की भव्य गरिमा दी गयी है। राबर्ट और हरीश के साथ रोमांटिक व्यापार के अतिरिक्त उसकी कोई भूमिका नहीं है। वही उसकी आजादी का प्रतिमान बन गया है। लेखक साहसपूर्वक यौन सम्बन्धों में स्वच्छन्दता नहीं दिखाता, उन्हें पहले मर्यादा में रखा जाता है जबकि वे शुरु से ही स्वच्छन्दता की प्रकृति लिये हुये हैं। इससे चरित्र में असंगति पैदा हो जाती है। यह असंगति 'दोहद्रोही' की चन्दा में विशेष रूप से है।

'झूठा सच' के बाद रामविलास शर्माजी ने अपनी धारणा में परिवर्तन किया- "इस उपन्यास का सामाजिक महत्त्व यह है कि वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता उसकी घुटन और अपमान, व्यक्तिगत सम्पत्ति की तरह उसके क्रय-विक्रय की जघन्यता को स्पष्ट करता है। इन प्राचीन सामन्ती बन्धनों से मुक्ति पाना कठिन है, नारी किस वीरता से उनके प्रति विद्रोह करती है, स्वयं उसके संस्कार किस तरह उसकी मुक्ति में बाधक होते हैं, इन सबका मार्मिक चित्रण उपन्यास में हुआ है।" लेकिन नारी की बन्धन मुक्ति का आह्वान तो यशपाल पहले भी करते रहे हैं। 'झूठा सच' में सम्बन्धों की पवित्रता के आग्रह द्वारा ऐसा लगता है कि यशपाल अपने ऊपर लगे आरोपों का उत्तर दे रहे हैं। इस उपन्यास के प्रमुख स्त्री पात्र तारा और कनक अपने शारीरिक सम्पर्कों की शुद्वता के प्रति बहुत सतर्क हैं। लेकिन प्रेम सम्बन्धों में उन्मुक्तता का यशपाल जी जानबूझ कर भी विरोध नहीं जता पाते हैं।

यशपाल अपने मूल्यों और सिद्वान्तों के प्रति एक मताग्रही दृष्टि रखते हैं। उनके उपन्यासों में चिन्तन का स्वर साधारण बहस मुहावरे का होता है, वे चिन्ता की दार्शनिक ऊँचाई पर नहीं जाते। उनकी मताग्रहीता एक राजनीतिक की है, साहित्यिक की नहीं। सुप्रसिद्ध इतालवी मार्क्सवादी चिन्तक ग्राम्सी ने लिखा है- "कलाकार के सम्मुख एक परिदृश्य अवश्य होना चाहिये, किन्तु राजनीतिज्ञ की अपेक्षा उसका परिदृश्य अनिवार्यता कम नपा तुला और कम निर्दिष्ट होता है और इस तरह वह कम 'कट्टर' होता हैं। कलाकार अनिवार्यता का एक विशेष क्षण में जो उसका प्रतिकलन यथार्थता के साथ करता है, इसलिये उनकी कृति वैयक्तिक और अहसहमतिपरक होती है।" 'झूठा सच' तक यशपाल भारतीय साम्यवादी दल की नीतियों के स्वेच्छया प्रवक्ता रहे हैं और 'मेरी तेरी उसकी बात' में भी उसकी मताग्रहीता स्पष्ट है। असहमति के प्रति उनमें बुनियादी सहिष्णु दृष्टि नहीं है, इसलिये प्रतिपक्षी विचारधारा के साथ सम्बन्धित पात्र स्रष्टा की सहानुभूति से वंचित रहते हैं। यशपाल जी की मानववादी प्रतिबद्धता में यह एक देशीयता है।

"मेरी तेरी उसकी बात" से पूर्व वे हमेशा कम्यूनिस्ट पात्रों को अच्छा और प्रतिपक्षी पात्रों को बुरा दिखाते रहे हैं। 'मेरी तेरी उसकी बात' मे अच्छे पात्र गैर-कम्यूनिस्ट जरूर हैं, पर पात्रों में भले और बुरे के विभाजन की उनकी पद्वति काफी हद तक पराम्परागत ही है। 'झूठा सच' में पुरी का पतन इसलिये प्रभावित नहीं करता कि वह यशपाल निर्णीत अभिकल्प का अंग अधिक है। पुरी जैसे बौद्धिक में जो पहले निष्ठाशील दिखाया गया है, अपने पतन की प्रतिक्रिया में आत्म संघर्ष की कोई स्थिति नहीं है। स्तालिन ने कहा था कि कम्यूनिस्ट आम व्यक्तियों से भिन्न एक खास ढाँचे में ढले होते हैं, वस्तुतः वे विशेष प्रकार के लोग हैं, इस प्रकार का मन्तव्य कम्युनिस्टों और दूसरे लोगों में नैतिक विभाजन को मानकर चलता है। स्तालिन के इस दृष्टिकोण का प्रतिफलन समाजवादी यथार्थवाद की तत्कालीन शासननिर्दिष्ट मान्यता में हुआ था। यशपाल जाने अनजाने इसी धारणा के अनुसार चरित्र-सृष्टि करते रहे हैं। विचारधारा के ग्रहण मात्र से मनुष्य के नैतिक हो जाने की यह मताग्रही धारणा है और मानववादी विचारण के प्रतिकूल (अन्सर्ट फिशर जैसे मार्क्सवादी चिन्तकों ने इस धारणा की विसंगति पर पर्याप्त प्रकाश डाला है)। यह सच है कि यशपाल जी के चरित्रों में गहरे आत्म-संघर्ष की अनुपस्थिति एक सामान्य अभाव है। विनय मोहन सिंह जी को शिकायत है कि 'झूठा सच' जैसे उनके सर्वश्रेष्ठ उपन्यास के सभी पात्र एक परिवर्तन से दूसरे परिवर्तन तक बिना किसी हलचल के गुजर जाते हैं। 'झूठा सच' को लेकर ही इस अभाव की शिकायत कुंवर नारायण जी ने यशपाल जी में कवि की अनुभूति के अभाव के रूप में की है। लेकिन यह कवि की अनुभूति का अभाव नहीं मनुष्य चरित्र की जटिलताओं में जाने की असमर्थता है। 'झूठा सच' से कहीं अधिक असमर्थता 'मेरी तेरी उसकी बात' में प्रकट हुई है।

'मेरी तेरी उसकी बात' अपने राजनीतिक उद्देश्य में इसलिये विफल रहता है कि लेखक अपने प्रमुख पात्रों की जिन्दगी के अन्दरूनी दायरे को उससे बहुत कुछ जुदा सा रखता है और एक विस्फोटक आन्दोलन के लिये अनुरूप विस्फोटनकारी घटनायें खड़ी नहीं करता। राजनीतिक परिवेश के सीधे चित्रण में भी डाइनरिक बॉल का 'द क्लाउन' इसलिये गहरा राजनीतिक प्रभाव देता है कि अपने प्रमुख पात्र के जरिये वह अपने समाज के उच्च वर्ग के उन प्रतिष्ठितों को विडम्बना का विषय बनाता है जो नाजी दौर में भी प्रतिष्ठित थे और ऐसा वह एक पारिवरिक परिवेश में घटित दिखाता है। इस तरह उपन्यास अतीत की आलोचना के साथ वर्तमान पर गहरा व्यंग्य बन जाता है। इस तरह की अप्रत्यक्ष प्रत्यक्षतः यशपाल जी की रचनात्मकता का अंग नहीं है। वे तत्कालीन राजनीतिक परिवेश को प्रत्यक्ष रखना

चाहते हैं, पर उपन्यासकार उसे महत्त्वपूर्ण नहीं बना पाता क्योंकि उसके जरिये वह दूसरी कहानी कहना चाहता है और इसलिये वह परिवेश प्रमुख हो जाता है। एक निमित्त भर। इस अप्रमुखता का परिणाम ब्यौरे लुटाने में से लक्षित होता ही है, उपन्यास का यह परिवेश एक अतीत परिवेश भी बना रहता है वह हमारे वर्तमान सन्दर्भों पर फिर से गौर करने की कोई महत्त्वपूर्ण दृष्टि नहीं देता।

निष्कर्ष रुप में यह कहा जा सकता है कि यशपाल जी के उपन्यासों के पात्र एक उल्का सदृश्य तत्कालीन परिवेश में अपना नूर फैलाकर रोमांच से अदृश्य हो जाते हैं, पात्रों का समाज पर प्रभाव एक निमित्त भर ही प्रतिफलित होता है।

❑

१३३/१००, पीताम्बर नगर
शंकर घाट, तेलियरगंज
इलाहाबाद- २११००४

यशपाल के उपन्यासों में नर-नारी सम्बन्ध

श्री अंशुमान

यशपाल उपन्यास विधा के विद्रोही उपन्यासकार हैं। वर्तमान सामाजिक ढ़ाँचे के प्रति वह अपनी असहमति प्रकट करते हैं। यशपाल के उपन्यासों में परम्परागत जीवन-मान्यताओं का खण्डन एवं नये सामाजिक मूल्यों की स्थापना का प्रयास है। नारी और पुरुष, प्रेम और विवाह, धर्म और ईश्वर आदि समस्त सामाजिक प्रश्नों को उपन्यासकार यशपाल ने परम्परागत मान्यताओं से भिन्न नये दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है। हमारे जीवन के दो पक्ष हैं व्यक्तिगत और सामाजिक। व्यक्तिगत जीवन में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना मानव निजी विकास और सुरक्षा के लिये प्रयत्नशील रहता है। सामाजिक जीवन में वह अपने जीवन को समाज की गतिविधियों के अनुकूल बनाकर सामाजिक विकास में अपना सहयोग देता है। यशपाल के उपन्यासों में जीवन के दोनों पक्षों का उद्‌घाटन हुआ है, पर उनमें चित्रित व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक जीवन के संदर्भ में ही आया है, क्योंकि समाज के अभाव में व्यक्ति का अस्तित्व असंभव है। नारी और पुरुष जीवन-रथ के दो पहिये हैं। इन्हीं दोनों के सहारे जीवन अपने विविध पक्षों के साथ निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। नारी और पुरुष सामाजिक जीवन में अनेक सम्बन्धों से जुड़े हुये हैं। इन सम्बन्धों में काम-सम्बन्ध सबसे प्रधान है। नारी और पुरुष दोनों में परस्पर आकर्षण और प्रेम सहज है। यही कारण है यशपाल के उपन्यासों में जहाँ भी दो समवयस्क नर-नारी उपस्थित होते हैं उनमें आकर्षण काम-प्रेरित है- इसको यशपाल मानते हैं। यह

आकर्षण 'दादा कामरेड' के शैल-हरीश अथवा शैल-राबर्ट में हो सकता है; राबर्ट और फ्लोरा में भी संभव है। 'मनुष्य के रुप' में यही आकर्षण यदि एक ओर मनोरमा और कामरेड भूषण में दिखायी पड़ता है तो दूसरी ओर धनसिंह और सोमा में। 'देशद्रोही' में बद्रीबाबू और राज, चन्दा और डॉ० राधा तथा यमुना और सुजान इसी आर्कषण से प्रेरित होकर एक-दूसरे के प्रति अनुरक्त होते हैं। 'बारह घंटे' में फेंटम और विनी का आर्कषण भी कुछ इसी प्रकार का है। दिव्या और पृथुसेन का, प्रथम साक्षात्कार में ही, एक-दूसरे के प्रति आर्कषित हो जाना काममूलक था। 'झूठा-सच' में पुरी और कनक में असद ओर तारा में, मर्सी और चड्ढा में, श्यामा और डे में सहज आकर्षण है। 'दादा कामरेड' की शैल इस आकर्षण के मूल में अपनी दृष्टि में दूसरों को अच्छा लगना मानती है। वह स्पष्टतः स्वीकार करती है- इसके बाद कई लड़के नजरों में आये। तुम बताओ, जो अच्छा हो वह अच्छा कैसे न लगे?"[१] आकर्षण के बाद नारी और पुरूष में परस्पर प्रेम-भाव उत्पन्न होता है। यह प्रेम लारेंस के शब्दों में, "अन्तरतम आवश्यकता की परस्पर पूर्ति का सम्बन्ध है।"[२] इसी को स्पष्ट करते हुये लारेंस ने कहा है, "प्रेम जीवन की मांग देता है और प्रेम-पात्र उस मांग को पूरा करता है, प्रेम-पात्र कोई भी हो सकता है। प्रेम-पात्र या व्यक्ति प्रेम का उन्मेष पूरा कर सकने के कारण ही अच्छा या प्यारा लगता है।"[३] प्रेम के प्राकृतिक स्वरूप के सम्बन्ध में लारेंस ने कहा है, "नर-मादा का आकर्षण प्राकृतिक बात है। मैं तो कहूँगा पशुओं का प्रेम अधिक निश्चल केवल प्रकृति की पुकार का परिणाम होता है। किसी अन्य प्रलोभन का विचार उनके आकर्षण को प्रभावित नहीं करता।" प्राकृतिक आकर्षणजन्य प्रेम में यशपाल के पात्र तृप्ति आवश्यक मानते हैं। शरीर को वे केवल साधन मात्र मानते हैं। कभी-कभी वे स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व ओर संतोष की वकालत करते हुये स्त्री को एक ही व्यक्ति के उपयोग की वस्तु बनाने का विरोध भी करते हैं। 'देशद्रोही' में डॉ० खन्ना का कथन है, "शरीर तो केवल साधन मात्र है। उससे अच्छे बुरे सभी स्पर्श होते हैं।..... न मैं यह विश्वास करता हूँ कि स्त्री को एक ही व्यक्ति के उपयोग की वस्तु बनाकर सुरक्षित कर लेना ही आचारनिष्ठा का सबसे बड़ा आदर्श है। पुरूष की वंश रक्षा के लिये सन्तानोत्पत्ति का साधन होने के अतिरिक्त स्त्री का अपना व्यक्तित्व और संतोष भी कोई चीज है।"[४] 'दादा कामरेड' में शैलबाला अपने और संतोष प्राप्ति के नाम पर ही एक के बाद दूसरे पुरूष के संसर्ग में अपने शरीर को साधन रूप में

१. दादा कामरेड- पृ० ३७-३८।
२. बारह घन्टे- पृ० ९९।
३. बारह घन्टे- पृ० १०१।
४. देशद्रोही- पृ० २०७-२०८।

प्रयुक्त करती है।

यशपाल प्रेम को जीवन में सहायक वस्तु के रूप में स्वीकार करते हैं। उसकी सार्थकता जीवन के विकास में है। 'मनुष्य के रूप' में भूषण मनोरमा से कहता है- "प्रेम तो जीवन में सहायक वस्तु है।" जीवन में अड़चन बनकर प्रेम नहीं चल सकता।.... जब प्रेम नित्य जीवन में असहाय स्थिति पैदा करने लगता है तो जीवन का बाधक होकर स्वयं समाप्त हो जाता है, उसकी जगह घृणा पैदा हो जाती है।[१]

यशपाल प्रेम को जीवन में निरपेक्ष सत्ता के रूप में नहीं परिस्थिति सापेक्ष मानते हैं। प्रेम कुछ घटनाओं का परिणाम है तो कुछ घटनाओं का कारण भी होता है। यदि सोमा अत्यन्त कष्ट में न होती और धनसिंह की सात्वंना उसकी असहाय अवस्था में एकमात्र अवलम्ब न बनती तो क्या वह उससे प्रेम करती? धनसिंह उसके भौतिक जीवन का अवलम्ब था। उसी प्रकार यदि सोमा का पति जिन्दा होता तो शायद वह प्रेम हो ही नहीं सकता था ओर मनोरमा को भी उससे सहानुभूति न होती। प्रेम जीवन में शरीर की अनुभूति और आवश्यकता से पृथक् वस्तु नहीं है। यशपाल जीवन में रोमांस को स्वाभाविक मानते हैं। उनकी नायक-नायिकाएँ तथा अन्य पात्र रोमांस, सहज आकर्षण एवं प्रेम के अभाव में अशक्त हो जाते हैं। देशद्रोही में डॉ० खन्ना जिन रमणियों के संसर्ग में आता है, चाहे वह नर्गिस अथवा चन्दा हो, एक के बाद दूसरे से प्रेम पाश में बंधकर निरंतर रोमांस करता चलता है।

भारतीय नारी के लिये उसका सबसे बड़ा नैतिक बंधन उसकी यौन-पवित्रता है। हमारे यहाँ नारी के सम्मान और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये यौन पवित्रता को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। इस पवित्रता की मर्यादा से स्खलित नारी, समाज में न प्रेम कर सकती है, न विवाह। यशपाल ने नैतिकता की इस रूढ़ मान्यता को अस्वीकृत किया है। निःसंदेह उनके उपन्यासों में नारियों का सम्बन्ध कभी-कभी एकाधिक पुरुषों के साथ दिखाई पड़ता है, पर यह परिस्थितिजन्य विवशता है। 'मनुष्य के रूप' की सोमा को परिस्थितियों से विवश होकर ही अनेक बार आत्मसर्मपण करना पड़ता है। इसलिये लेखक उसे अपवित्र नहीं मानता। काम-संबंधों में वांछनीय स्वतंत्रता स्वीकार करने वाले यशपाल आवश्यक होने पर गर्भपात का भी समर्थन करते हैं। उस संतान को जिसका स्वागत करने के लिये समाज तैयार नहीं है, उसे समाज में ले आना उस अबोध शिशु के प्रति लेखक बहुत बड़ा अन्याय मानता है। 'दादा कामरेड़' में शैल और राबर्ट के संवादों के माध्यम से लेखक ने गर्भनिरोध की आवश्यकता की ओर संकेत भी किया है। गर्भ निवारण

१. मनुष्य के रूप पृ० ८६-८७।

प्राकृतिक आवश्कता है। प्रकृति में यह काम दूसरे तरीकों से चलता है। साँपिनी एक हजार अण्डे देती है, परन्तु जब एक हजार बच्चे निकलते है तो स्वयं ही उसे घेरकर खाने लगती है। जो एक-दो बच्चे बच जाते हैं, वे ही दूसरे जीवों के लिये आफत हो जाते हैं।"[1] यशपाल के उपन्यासों में नारी और पुरुष के जिन विविध संबंधों का चित्रण हुआ है, उनमें एक बात स्पष्ट दिखायी देती है कि वह नारी स्वातंत्र्य के प्रबल समर्थक हैं। नारी स्वातंत्र्य के लिये यशपाल नारी की आत्म-निर्भरता आवश्यक मानते हैं। पुरुष पर निर्भर रहने वाली स्त्रियों के विषय में मनोरमा कहती है- "सभी स्त्रियाँ आश्रय का मूल्य, प्रेम का मूल्य अपने शरीर से चुकाती हैं। आत्म-निर्भर मूल्य तो वही है जो आश्रय न मांगे अपने पांव पर खड़ा हो।"[2] आत्मनिर्भर नारी निश्चित रूप से पुरुष की इच्छाओं पर न चलकर अपनी स्वतंत्र इच्छाओं का अनुसरण कर सकती है। जैसा डॉ० खन्ना के प्रति गुलशां के व्यवहार से लक्षित होता है। 'झूठा-सच' में लगभग सभी शिक्षित नारी पात्र आत्म-निर्भर है; जो नहीं है वे अपने पैरों पर खड़ें होने के लिये दिन रात परिश्रम करती हैं।

यशपाल ने समाज की अन्य रूढिग्रस्त समस्याओं पर भी विचार किया है। 'देशद्रोही' में विधवा समस्या पर लेखक ने कलात्मक ढ़ंग से अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। राज बीबी का पति डॉ० खन्ना लुटेरों द्वारा अपहृत कर लिया जाता है। राज को उसकी मृत्यु का समाचार मिलता है। वह इस समाचार से मूर्छित होकर मृत्यु का आलिंगन करने के लिये तैयार हो उठती है, परन्तु मृत पति की स्मृतियाँ धीरे-धीरे लुप्त होने लगती हैं और वह बद्रीबाबू की ओर आकर्षित हो जाती है। अंत में उसी के साथ उसका राजनीतिक विवाह भी हो जाता है। डॉ० खन्ना राज के इस व्यवहार का विरोध नहीं करता। वह अपनी पूर्ण समर्पिता पत्नी के सुखद भविष्य की कामना करता है। इस प्रकार यशपाल ने यदि एक ओर विधवा विवाह का सर्मथन किया है, तो दूसरी ओर परम्परागत शाश्वत पतिव्रत धर्म का खण्डन किया है। 'झूठा-सच' में विधवा उर्मिला अन्ततः डॉ० मोगिया की पत्नी बन जाती है। 'दिव्या' में यशपाल ने वेश्या जीवन पर भी विचार किया है। दिव्या पुरोहित चक्रधर के अत्याचार से पीड़ित होकर, बौद्ध बिहार में बुद्ध की शरण पाने की प्रार्थना करती है पर अभिभावक की अनुमति के अभाव में उसे विहार के अन्दर आश्रय नहीं मिलता। अम्बपाली की चर्चा करने पर विहार का स्थविर कहता है- "वेश्या स्वतंत्र नारी है, इसलिये भगवान, तथागत ने वेश्या अम्बपाली को संघ में शरण दिया था।"[3]

---

१. दादा कामरेड- पृ० १३२।
२. मनुष्य के रूप- पृ० १६७।
३. दिव्या- पृ० १२७।

अंशुमाला मारिश के सामने जब स्थविर के वाक्य, "वेश्या स्वतंत्र नारी है को दोहराती है तो मारिश वेश्या के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये कहता है- "यदि कुल वधू एक पुरुष की भोग्य हो तो जनपद कल्याणी वेश्या सम्पूर्ण जनपद और समाज की तृप्ति का साधन है। वह जन को कामना का संकेत देती है और उसके मूल्य में जीवन के भोगों का साधन केवल धन पाती है,.... इसके अतिरिक्त और क्या? वेश्या जीवन की गति अर्थात 'काम' का उत्तेजक साधन है परन्तु परिणाम में स्वयं उसका काम अर्थहीन और वंचित रहता है। उसकी कला दूसरे के जीवन में वासना की पूर्ति के अनुष्ठान के रूप में उपयोगी है। परन्तु वह स्वयं क्या पाती है? वह 'काम' के यज्ञ का साधन मात्र है। उसकी स्वतंत्रता का भोग जन करता है वह स्वयं नहीं। वह केवल वंचना पाती है।"[1] दूसरे शब्दों में लेखक वेश्या को शोषक समाज की उपज मानता है। जीविका की दृष्टि से वह अवश्य ही स्वतंत्र नारी है और इसलिये कुल वधू की तरह किसी एक व्यक्ति के अनियंत्रित स्वेच्छाचार का शिकार नहीं बन पाती।

❑

११७बी/२८१ राधानगर
दारागंज, इलाहाबाद
२११००६

---

१. दिव्या- पृ० १५८।

यशपालः एक परिचय

●●

श्री भूपेश प्रताप सिंह

यशपाल का जन्म फिरोजपुर छावनी में ३ दिसम्बर १९०३ को हुआ था। वंश परम्परा में मूलतः आप कांगड़े के मनोहर घाटी इलाके के थे। माँ श्रीमती प्रेमदेवी के कुशल देख-रेख में आपका बचपन बीता था। यशपाल की शिक्षा हेतु माँ एक अनाथालय में पढ़ाती थीं। आर्थिक तंगी के कारण यशपाल को सात वर्ष की उम्र में गुरुकुल कांगड़ी में प्रवेश दिलाया गया। यहाँ के संयम तथा अनुशासन का यशपाल के बाल-मानस पर विशेष प्रभाव पड़ा। यहीं से यशपाल के मन में राष्ट्रीयता का भाव जगा था। इसके बाद लाहौर के डी०ए०वी० स्कूल में आपको प्रवेश दिलाया गया लेकिन माँ की मद्द के लिये फिरोजपुर छावनी लौटकर रात्रि पाठशाला में अध्यापन का कार्य किया।

यशपाल वकील बनना चाहते थे लेकिन १९२१ के आन्दोलन से प्रभावित होकर कांग्रेस के स्वयंसेवक बन गये थे आन्दोलन के स्थगित होने पर लाला लाजपत राय के नेशनल स्कूल में दखिला लिया। यहीं पर आपका परिचय भगत सिंह, सुखवीर तथा भगवतीचरण वोहरा से हुआ। १९२५ में यशपाल ने बी०ए० की परीक्षा पास की तथा नेशनल स्कूल लाहौर में अध्यापक बन गये लेकिन स्कूल टूटने के बाद आपकी नौकरी चली गयी। इस बीच आप काफी आर्थिक कठिनाइयों के शिकार रहे। मजबूर होकर लाहौर के एक इंश्योरेन्स कम्पनी में क्लर्क बन गये। साइमन कमीशन के विरोध-प्रदर्शन में लाला लाजपत राय की मृत्यु के बाद यशपाल, भगत सिंह, सुखवीर तथा वोहरा

के साथ क्रान्तिकारी गतिविधियों में पूर्णतः लग गये थे। यशपाल लाहौर के एक गुप्त बम फैक्टरी में कार्यरत थे। फैक्ट्री पर छापा के कारण यशपाल फरार हो गये। इसी बीच क्रान्तिकारियों के बीच कमला के रूप में प्रसिद्ध प्रकाशवती से आपका परिचय हुआ। चन्द्रशेखर आजाद के बाद यशपाल क्रान्तिकारी दल के प्रमुख बनाये गये लेकिन जनवरी १९३२ में यशपाल को गिरफ्तार कर लिया गया तथा १४ वर्ष की सजा सुनाई गयी।

जेल की लम्बी अवधि में यशपाल को अध्ययन-मनन का अवसर मिला। जेल में ही यशपाल साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हुए थे। बरेली जेल में अगस्त १९३६ में यशपाल का प्रकाशवती से विवाह सम्पन्न हुआ। कांग्रेस मंत्रीमंडल द्वारा रिहा होने के बाद यशपाल लखनऊ में बस गये। लखनऊ निवास के प्रारम्भ में 'कर्मयोगी' पत्र में कार्य किया लेकिन स्वतंत्रता प्रिय यशपाल ने संघर्षों से जूझते हुये 'विप्लव' नामक मासिक पत्र निकाला। 'विप्लव' का उर्दू संस्करण 'बागी' भी यशपाल ने निकाला। सरकारी दबावों के चलते 'विप्लव' तथा 'बागी' बन्द करना पड़ा था। अब यशपाल के सामने जीवन-यापन की समस्या थी लेकिन संघर्षों से जूझते अन्ततः यशपाल स्वतंत्र लेखन के क्षेत्र में उतरे तथा यह क्रम जीवन पर्यन्त चलता रहा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यशपाल का प्रारंभिक जीवन कठिन संघर्षों से भरा रहा। आर्थिक विपन्नता का जो सिलसिला बचपन से चला था वह जीवन के उत्तरार्द्ध तक बना रहा। अन्ततः एक साहित्यकार बनकर ही 'यश' ने अपने नाम 'यशपाल' को पूर्ण सार्थकता प्रदान की।

आपकी मृत्यु २६ दिसम्बर, १९७८ को लखनऊ में हुई थी।

प्रकाशित कृतियाँ

उपन्यास

१. 'दादा कामरेड'- १९९१ २. 'देशद्रोही'- १९४३ ३. 'दिव्या'- १९४५ ४. 'पार्टी कामरेड'- १९४६ ५. 'मनुष्य के रूप'- १९४९ ६. 'अमिता'- १९५६ ७. 'झूठा सच' वतन और देश- १९५८ ८. 'झुठा सच' देश का भविष्य- १९६० ९. 'बारह घंटे'- १९६३ १०. 'अप्सरा का शाप'- १९६५ ११. 'क्यों फँसे'- १९६८ १२. 'मेरी तेरी उसकी बात'- १९७४

कहानी संग्रह

१. 'पिंजरे की उड़ान'- १९३९ २. 'वो दुनिया'- १९४१ ३. 'तर्क का तूफान'- १९४३ ४. 'ज्ञानदान'- १९४४ ५. 'अभिशप्त'-१९४४ ६. 'भस्मावृत चिंगारी'- १९४६ ७. 'फूलों का कुर्ता'- १९४९ ८. 'धर्म युद्ध'- १९५० ९. 'उत्तराधिकारी'- १९५१

१०. चित्र का शीर्षक- १९५२ ११. 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ'- १९५४ १२.उत्तमी की माँ'- १९५५ १३. 'ओ भैरवी!'- १९५८ १४. 'सच बोलने की भूल'- १९६२ १५. 'खच्चर तथा आदमी'- १९६५ १६. 'भूख के तीन दिन'- १९६८ १७.'संकट मोचक'- १९७० (अप्राप्य) १८. 'लैम्प शेड'- १९७७ (अप्राप्य)

निबन्ध

राजनैतिक निबन्ध

१. 'न्याय का संघर्ष'- १९४० २. 'मार्क्सवाद'- १९४० ३. 'गाँधीवाद की शव परीक्षा'- १९४० ४. 'रामराज्य की कथा'- १९५१

कथात्मक निबन्ध

१. 'देखा सोचा समझा'- १९५१ २. 'मेरा चेहरा रोबीला है'- १९५९ ३. 'जग का मुजरा'- १९६२

हास्य-व्यंग्य निबन्ध

१. 'चक्कर क्लब'- १९४२ २. 'बात बात में'- १९५०

विविध निबन्ध संग्रह

१. 'मैं क्यों लिखता हूँ'- १९८३ २. 'इन्तजार से इन्तजार तक'- १९९०

संस्मरण

१. 'सिहांवलोकन' (भाग-१)- १९५१ २. 'सिहांवलोकन' (भाग-२)- १९५२ ३.'सिहांवलोकन' (भाग-३)- १९५५

यात्रा-वृत्तान्त

१. 'लोहे की दीवार के दोनों ओर'- १९५३ २. 'राह बीती'- १९५६ ३. 'स्वर्गोधान बिना सांप'- १९७५

एकांकी संग्रह

१. 'नशे-नशे की बात'- १९५२

सम्पादन

१. 'विप्लव'- मासिक पत्र- लखनऊ २. 'बागी' (उर्दू में)- मासिक पत्र- लखनऊ

अनुवाद

१. 'पक्का कदम' (अनुदित उपन्यास- वर्दी किर्वावायेब)- १९४९ २. 'जनानी ड्योढ़ी' (अनुदित उपन्यास- पर्ल बक)- १९५६ ३. 'फसल' (अनुदित उपन्यास- गालिना निकोलायेबा)- १९५६ ४. 'चलनी में अमृत' (अनुदित उपन्यास- कमला मार्कण्डेय) -१९५७ ५. 'सुलेखा' (अनुदित उपन्यास- अस्कद मुख्तार)- १९६६ ६.'चीनी कम्यूनिस्ट पार्टी' (राजनैतिक निबन्ध- लू शाओ ची)- १९५१ ७.'लूसुन' (चीनी लेखक) की

कहानियों का अनुवाद विदेशी भाषा प्रकाशन गृह विजिंग के लिये- १९६० ८.'गाँधी और लेनिन' (अनुवाद) श्री ऋषीचरण जैन के लिये (दिल्ली)- १९३० (अप्राप्य) ९.मुगीबी (इब्सन) का अनुवाद, साहित्य अकादमी के लिये- १९७० १०. रजनी पामदत्त की पुस्तक MODERN INDIA का अनुवाद क्रान्तिकारी जीवन में किसी समय किया था। अप्रकाशित तथा अनुपलब्ध।

यशपाल की कला-सम्बन्धी मान्यतायें

यशपाल का कला के प्रति दृष्टिकोण उपयोगितावादी है। कला का जीवन तथा मानवता से जुड़ाव के यशपाल पक्षधर थे। उनके ही शब्दों में- "कलाकार मानव पहले है और कला उसकी मानवता का विकास और स्फुरण मात्र है। जो भावना तथा व्यवस्था मानवता के विकास तथा समृद्धि में सहायक है वह कला के विकास की शत्रु नहीं हो सकती। मानवता की पूर्णता और उपलब्धि के लिये संयम को स्वीकार करना कला का विनाश है।"[1]

यशपाल 'कला कला के लिये' की बात को अस्वीकार करते हैं। यशपाल के अनुसार यह नारा कोई तभी देता है जब वह अपने कृति में सुदृढ़ विचारों की अभिव्यक्ति नहीं दे पाता लेकिन कला की मूल प्रेरणा स्त्रोत समाज ही है। यशपाल प्रयोजनहीन कला को कला नहीं मानते हैं। कलावादियों पर प्रहार करते हुये कहते हैं कि "कला व्यक्तिगत संतोष के लिये नहीं, कला का उद्देश्य जीवन में पूर्णता की प्राप्ति है।"[2] 'दिव्या' में अंशुमाला के माध्यम से कहते हैं- "प्रयोजन से हीन कला मोहक रूप लिये मिट्टी के समान है जो तृप्ति नहीं दे सकती।"[3] यानि यशपाल कला को विचारों या भावों का मूर्त रुप देने का माध्यम मानते हैं।

'दादा कामरेड' की भूमिका में लिखते हैं "जीवन में मेरी साध केवल व्यक्तिगत जीवन यापन नहीं बल्कि सामाजिक जीवन की पूर्णता है।इसलिये कला से संबंध जोड़कर कला को केवल व्यक्तिगत संतोष के लिये नहीं समझ सकता।.... क्या यह अधिक अच्छा नहीं कि वह यत्न समाज के लिये विकास और नवीन कला के लिये आधार प्रस्तुत करे।" यानि यशपाल जीवन-विकास के प्रयत्नों की प्रेरणा देना कला का उद्देश्य मानते हैं।

यशपाल श्रमिक के श्रम की महत्ता की भाँति कलाकार की महत्ता बताते हैं। "देशद्रोही" की भूमिका में लिखते हैं- "लेखक यदि कलाकार भी है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे श्रमिकों की भाँति कुछ उपयोगितावाद की सृष्टि करने में ही है। उसके श्रम की उपयोगिता समाज के विकास के सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले जाने में ही है। यशपाल के विचार में साहित्य का कलाकार मात्र चारण बनकर सामाजिक कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकता। यशपाल की दृष्टि में

एक साहित्यकार समाज की पीड़ा का अनुभव कर रोता है। यशपाल पर प्रचारवाद का आरोप लगाया गया था? उसके जवाब में यशपाल कहते हैं कि समाज की वास्तविकता का प्रचार नहीं हो सकता। 'पार्टी कामरेड' की भूमिका में लिखते हैं- "यदि गधे को गधा कहना और हाथी को हाथी कहना प्रचार नहीं तो किसी बात का वास्तविक परिचय देना ही क्यों प्रचार है।"

सामान्य धारणा है कि साहित्य का उद्देश्य सौदर्न्य की सृष्टि है। परन्तु यशपाल सौन्दर्य का अर्थ भिन्न तरीके से लगाते है। यशपाल के शब्द "एक बन्दर की कल्पना कीजिये जिसके सिर काट देने की सजा दी गयी हो उसे ऊषा की लाली कैसी लगेगी? आपने ईद के मौके पर कुर्बानी का जुलूस देखा होगा। बलि के पशु को सजाकर लोग कितनी प्रसन्नता और उत्साह से चलते हैं। उसमें उन्हें वह अपूर्व सौन्दर्य दिखाई देता है परन्तु क्या बलि के पशु को वह सौन्दर्य सन्तोषजनक जान पड़ता होगा।"[४] यशपाल की इस बात से पता चलता है कि सौन्दर्य के मानदण्ड भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग हो सकते हैं। यशपाल के अनुसार कला सौन्दर्य के इसी परिवर्तित रुपों का अंकन करती है।

यशपाल के विचार में सच्ची कला सामाजिक यथार्थ के साथ चलती है यथार्थ के अभाव में कला दीर्घजीवी तथा प्रभावशाली नहीं होती है। यशपाल यथार्थ तथा आदर्श को व्याख्यायित करते हैं। एक ही घटना भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न अनुभव कराती है। यशपाल के अनुसार "कालिदास के द्वारा कैलाश की गुफा में शिव के कामातुर व्यवहार को हम श्रृंगार की उत्कृष्ट वर्णन और शाश्वत मूल्य का साहित्य समझेंगे और किसी आधुनिक यथार्थवादी लेखक द्वारा ईख या अरहर के खेत में दीन किसान के कामातुर व्यवहार का वर्णन केवल निदंनीय अश्लीलता समझ लें। एक अवस्था में ही एक ही यथार्थ आदर्श के योग्य और दूसरी अवस्था में निरादर के योग्य हो जाता है।"[५] लेकिन यशपाल सामाजिक यथार्थ के चित्रण में कल्पना का महत्त्व स्वीकार करते हैं। यर्थाथवादी प्रणाली का अर्थ शब्दों में समाज की भद्दी फोटोग्राफी करना नहीं है। यशपाल के अनुसार यदि आँखें देखे यथार्थ में यथातथ्य प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना कला समझा जायें तो कालिदास, शेक्सपीयर, तुलसी, भारतेन्दु में से कोई भी कलाकार नहीं माना जायेगा। यशपाल कहते हैं कि कला का कार्य प्रेरक शक्ति और रस-राग उत्पन्न करना है। प्रेरणा रस-राग से रहित यथार्थ चित्रण कला नहीं है। यशपाल के अनुसार कल्पना से सजीव घटनाओं एवं पात्रों की सृष्टि कर सकना ही यथार्थवादी कला है। यशपाल का कथा साहित्य इस बात का प्रमाण है।

समग्रतः यशपाल के ही शब्दों में- "कलाकार साहित्य की रचना अभिव्यक्ति

के लिये करता है। वही अभिव्यक्ति सार्थक या कलात्मक समझी जा सकती है जिसमें कुछ व्यंजना हो, गर्भित अर्थ हो, जिसमें कुछ भावना हो या जिसमें कुछ विचार हो। अभिव्यक्ति अथवा साहित्य का प्रयोजन कलाकार की भावना या विचारों को दूसरों तक पहुँचाना, उसका प्रचार या प्रसार करना होता है। विचारपूर्ण साहित्य अवश्य प्रचारात्मक होगा केवल विचारहीन अथवा भावनाहीन साहित्य प्रचारहीन हो सकता है।"[६]

❑

ग्राम-मडेरिका, पोस्ट-सतगँवाँ,

जिला-सुल्तानपुर

उत्तर प्रदेश

सन्दर्भ

१. 'यशपाल अभिनन्दन ग्रन्थ', पृ० १४७। २. 'बात-बात में', पृ० १२-१३। ३. 'दिव्या', पृ० १४२। ४. 'बात बात में', पृ० १८। ५. 'कल्पना', जनवरी १९५८, पृ० ६०। ६. 'देखा सोचा और समझा', पृ० १०।

मैं कहानी कैसे लिखता हूँ?

●●

श्री यशपाल

यदि बहुत से कहानी लेखक कहानी लिखने की अपनी प्रक्रिया का वास्तविक विश्लेषण कर सकें, तो कहानी लिखने के सम्बंध में बहुत सी उपयोगी बातें जानी जा सकेंगी। इससे बहुत से लोगों का कौतूहल पूरा होगा, संभव है कुछ को लाभ भी हो सके। इसलिये अपने ढंग की बात साफ-साफ लिख रहा हूँ।

वास्तविकता निर्धारित करने के लिये अपने कहानी लिखने के ढंग की बात कहनी है तो प्रभावशाली या रोचक बात कह देने की अपेक्षा स्मृति में से समय-समय के अनुभवों को टटोलना जरुरी है। ये भी याद रखूं कि कहानी लिख सकने की अपनी क्षमता का विश्वास हो जाने पर कहानी लिख डालने में और बहुत दिन पहले, जब ऐसा जम नहीं पाया था, मेरे कहानी लिखने के ढंग में अंतर आ रहा है। अपनी-अपनी जगह ये दोनों का अनुभव सच है।

कहानी लिखने या कोई भी काम कर सकने के लिये मुख्य कारक तो प्रेरणा को ही मानना पड़ेगा। साहित्यिक लोगों में शब्द प्रेरणा बहुत रहस्यमय और गूढ अभिप्राय से प्रयोग किया जाता है। ऐसी भी भावना पायी जाती है कि इसके लिये अद्‌भुत प्रतिभा पहली शर्त है और उसके विशेष प्रकार का आकाश, ऋतु या प्राकृतिक परि्स्थितियों का सहयोग आवश्यक होता है। मेरी स्मृति में यह स्पष्ट है कि सबसे पहली कहानी मैंने बारह वर्ष की उम्र में लिखी थी। उस समय कहानी लिखने की प्रेरणा किसी को कहानी लिखते देखकर ही हुई थी। ऐसे ही अच्छे चित्र

देखकर चित्र बनाने की प्रवृत्ति होती थी। कभी-कभी अब भी हो जाती है। कई बार चित्र बनाये भी। परन्तु उस साधन की अपेक्षा लिखने की ओर ही अधिक प्रवृत्ति हुई, शायद इसलिये कि मेरे सामाजिक और राजनैतिक उद्वेगों को मार्ग देने के लिये यही माध्यम अधिक उपयोगी लगा। कहानी सुनने और पढ़ने में अच्छी लगती ही थी। कुछ ऐसी भावना थी कि दूसरे लोग लिख सकते हैं तो मैं क्यों नहीं लिख सकता। उसके बाद जब कोई कहानी पढ़कर संतोष होता था, तो वैसी ही वस्तु की रचना कर सकने के संतोष की भी चाह होती थी। ऐसी चाह मन में होने पर समाज की सामूहिक धारणाओं में पायी हुई भावनाओं और समस्याओं को ही विषय बनाया जा सकता था। कहानी लिखने की चाह मन में होने पर मस्तिष्क विषय खोजता रहता है ओर सामने आने पर उन्हें पकड़ लेता है।

कहानी मे और कहानी लिख सकने की सफलता में आकर्षण है। आकर्षण का कारण सौन्दर्य होता है। सौन्दर्य को मूर्त या दृश्य रूप में देखते ही हैं परंतु सौंदर्य का सूक्ष्म अस्तित्व भी होता है। कहानी में दृश्य कुछ न होने पर भी मिलने वाला संतोष उसके सौन्दर्य का प्रमाण है। कहानी पढ़कर हम उस सौंदर्य का भोग करते हैं। कहानी लिखने की इच्छा का अर्थ मानना चाहिये, ऐसा सौन्दर्य रच सकने के संतोष की इच्छा! जिन वस्तुओं और धारणाओं के प्रति हमारे मन और संस्कारों में सहानुभूति, श्रद्धा ओर आर्कषण हो, वे सभी हमारे लिये सुन्दर होती है। उदाहरणतः सहानुभूति का सौन्दर्य, सत्यपरायणता का सौन्दर्य, निस्वार्थ उद्देश्य के लिये बलिदान हो जाने का सौन्दर्य। ऐसे सौन्दर्य से रंजित घटनाओं को अपने ज्ञान व अनुभवों के आधार पर कल्पना से गढ़ लेना या ऐसे सौन्दर्यो से संबद्ध घटनाओं को सुन्दर ढंग से वर्णन कर सकना ही कहानी-रचना की कला है।

जब हम सौन्दर्य की रचना के लिये कहानी लिखते हैं या कहिये मैं लिखता था, तो इसी प्रकार के सौन्दर्य को कल्पना द्वारा गढ़ी हुई परिस्थितियों में काल्पनिक पात्रों द्वारा क्रियात्मक रूप देने की चेष्टा करता था। इससे दो प्रकार का संतोष होता था। एक तो कहानी के रूप में रोचक या सुंदर रचना कर सकने का संतोष, दूसरे अपनी धारणा के अनुसार मान्यताओं के प्रति सहानुभूति और आकर्षण उत्पन्न कर सकने के कर्तव्य की पूर्ति का अथवा सद्प्रेरणा या तृप्ति का सौन्दर्य रच सकने का संतोष।

कहानी लिखने की प्रेरणा के संबंध में इस विश्लेषण से शायद यह ध्वनि निकलती जान पड़े कि ऐसी अवस्था में मेरी सचेत व अचेत भावना 'कला के लिये कला' की थी। इतनी बात तो ठीक है कि मैं व्यक्तिगत रूप से बिना किसी निश्चित लक्ष्य के भी कला का अभ्यास करना चाहता था। परन्तु जिन मान्यताओं को

सर्मथन देकर या जिस पांखड का पर्दाफाश करके मुझे संतोष होता था, उसका आधार सामाजिक था और मेरी इच्छा का कारण अपनी सामाजिक प्रवृत्ति को चरितार्थ कर पाने की इच्छा ही रही होगी। कला के माध्यम को सचेत रूप से उद्देश्य के लिये उपयोग में ला सकने का अवसर तो तभी आ सकता था, जब मैं उस माध्यम का उपयोग कर सकने की योग्यता का विश्वास प्राप्त कर लेता। इतनी बात तो स्पष्ट ही है कि मैं अपने मन और कल्पना में अनुभव होने वाले सौन्दर्यों को समाज के सामने लाना चाहता था ओर वे सौन्दर्य सामाजिक भावनाओं और धारणाओं पर आश्रित थे और उनकी अनुभूति को मैं सामाजिक रूप में अनुभव करना चाहता था।

लिखने के संबंध में एक विशेष अनुभव मेरा भी रहा है, जैसा शायद कम ही कहानी लिखने वालों को हुआ हो, अर्थात फल की प्रकट आशा के बिना भी मैनें लिखा है। जेल के जीवन में जब छूट जाने की आशा ही नहीं थी और न अपनी लिखी कहानियों के प्रकाशित हो सकने का विश्वास था, तब भी लिखता रहा हूँ। तब खूब अच्छी तरह लिख सकने का और लिखना आ जाने का संतोष कर सकता था। समस्या को ऐसे रूप में पेश कर सकने का संतोष कि उसकी उपेक्षा ही न की जा सके। ऐसी कई कहानियों को बार-बार लिखा। अपनी लिखी कहानियाँ पाठक या आलोचक की दृष्टि से पढ़कर देखता था। संतोष न होने पर उसे दोबारा लिखता था। अब भी ऐसा करता हूँ। मेरा अनुभव है कि कोई कहानी दोहराने और दोबारा लिख डालने में बहुत सुधर जाती है।

जब लोगों ने कहा कि मैं अच्छी कहानी लिख लेता हूँ और मुझे लिख सकने का विश्वास हो गया, तो कहानी लिखने में सीखने का प्रयोजन नहीं रहा। सीखना प्रयोजन न रहने पर भी कहानी लिखना ही एक प्रयोजन अवश्य है। रवि ठाकुर ने कहानी लिखने का प्रयोजन कहानी कहने का संतोष भी बताया है, परन्तु मुझे जान पड़ता है कि कहानी लिखना एक क्रिया का प्रकट रूप है, उसके कारण जो इस प्रकट क्रिया के मूल में रहते हैं, भिन्न होते हैं। अपने संबंध में इन अव्यक्त कारणों की बात जब मैं करता हूँ तो फिर पहली बात को ही दोहराना पड़ता है कि कहानी लिखने का प्रयोजन या प्रेरणा का मूल मस्तिष्क और हृदय में बन पाने वाले सौन्दर्यों की अभिव्यक्ति करने की इच्छा अपनी अनुभूतियों को समाज के संपर्क में लाने की इच्छा होती है। ऐसी भावना को स्वान्तः सुखाय कह दिया जाये, तो बिगड़ने की बात तो नहीं, परन्तु व्यक्ति इकाई की सीमाओं से बहुत दूर-दूर तक अपने संपर्क के समाज तक फैला रहता है ओर स्वतः सुखाय का वास्तविक अर्थ 'समाज सुखाय' ही होता है।

इतनी आयु तक अपने समाज को बहुत कुछ देखने का अवसर मिला है, इसलिये अब केवल समाज की परंपरागत मान्यताओं और धारणाओं के लिये समर्थन से ही सामाजिक कर्तव्य पूरा कर लेने का संतोष नहीं होता। कुछ उल्टा ही जान पड़ने लगा है। जान पड़ता है कि परिस्थितियाँ बदल गयीं हैं। समाज ने अपने विकास में अपने आपको बदल लिया है। इसलिये अब केवल समाज की परंपरागत मान्यताओं और धारणाओं के लिये समर्थन प्राप्त करने से ही सामाजिक कर्तव्य पूरा कर लेने का संतोष नहीं होता। कुछ उल्टा ही जान पड़ने लगा है। जान पड़ता है कि परिस्थितियाँ बदल गयीं हैं। समाज ने अपने विकास के क्रम में अपने आपको बदल लिया है। इसलियें मान्यताओं और धारणाओं के संबंध में पुनः विचार करने का समय आ गया लगता है। अनेक पुरानी मान्यतायें और परंपरायें आज की परिस्थिति में बहुत उखड़ी-उखड़ी लगती हैं। इससे समाज में अव्यवस्था ही उंत्पन्न होती दिखाई देती है। समाज का अंग होने के नाते अव्यवस्था के इन अव्यक्त कारणों को सुझा सकने में बल्कि ज्यादा संतोष अनुभव होता है। इसी ओर मेरी अधिक प्रवृत्ति होती है; यानी असुंदर को प्रकट कर देने की ओर; अपने समाज को अंधविश्वास के धोखे से बचाने की ओर।

कुछ लोग कहेगें कि असौन्दर्य को प्रकट करके संतोष पाना मेरे स्वभाव की अव्यक्त कलात्मकता नहीं, बल्कि अव्यक्त विकृति है। मैं समझता हूँ कि मकान को सजाकर सुंदर बना सकने के लिये पहले उसकी विषमताओं को खोजकर और खुरचकर दूर कर देना आवश्यक है। उन्हें छिपा देने से काम नहीं चल सकता। छिपाकर यदि संतोष करना चाहेंगे, तो ये विषमतायें और विकृतियाँ मकान की दीवारों और छत को ही ले बैठेंगी। छिपी हुई चीज दिखायी चाहे न दे, दुर्गन्ध तो देती है।

उपरोक्त सभी बातों को एक ही शीर्षक के अन्तर्गत कहानी के लिये विषय के चुनाव में ले लिया जा सकता है। सत्य बात तो यही है, पर कुछ व्यवहारिक बातों के संबंध में भी जिज्ञासा हो सकती है। विषय चाहे जितना रोचक हो या उद्देश्य चाहे जितना अच्छा हो, यदि कहानी के गठन में घटना की सच्चाई और स्वाभाविकता नहीं आ पाती, तो कहानी का कलात्मक पक्ष निर्बल रह जायेगा, उसे कहानी नहीं कहा जा सकेगा। पहली बात है, क्षेत्र और पात्रों का चुनाव। प्रायः लेखक अपने सुपरिचित क्षेत्रों और पात्रों को ही अपना माध्यम बनाते हैं। असल में यही ढंग ठीक भी है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण शरत बाबू थे। उनका अपना क्षेत्र था, स्त्री की पारिवारिक स्थिति और विषय, भद्रलोक की विधवा। इस क्षेत्र और विषय के बाहर उन्होंने एक ही बार कदम रखा है 'पथ के दावेदार' में। इस

उपन्यास में वे चारों खाने चित्त गिरे हैं, ये बात मैं स्वयं क्रान्तिकारी दल में काफी काम कर चुकने के अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ।

मैंने स्वयं घसियारिन और वेश्या और चोर-डाकू से लेकर व्यापार और सम्प्रदाय के नेताओं और कलाकार पात्रों तक को माध्यम बनाया है। पात्रों के अनुसार राजमहल, ऋषियों के आश्रम, वेश्या की कोठड़ी तक का क्षेत्र लिया है। मेरी ये बात बहुत लोगों को अव्यावहारिक लगेगी। प्रायः ही कहा जाता है, Write from life, मैं स्वयं इस बात से सहमत हूँ। लेकिन जीवन को जानने-समझने का उपाय क्या है? अर्थ क्या है? और उसकी कसौटी क्या है?

समाज में भिन्न-भिन्न अंगों का व्यक्तिगत संपर्क पाकर उनके विषय में लिखने का विचार तो ठीक है, परन्तु कितने आदमी कितनी स्थितियों से व्यक्तिगत संपर्क प्राप्त कर सकते हैं? मेरा अपना अनुभव है कि मैं स्वयं पेशावर से आगे कभी नहीं गया। 'देशद्रोही' उपन्यास में मैनें अफरीदी इलाकों, गजनी और सोवियत के दक्षिण भाग के जीवन का वर्णन किया है। राहुल जी को उन भागों का व्यक्तिगत ज्ञान है। उन्होंने 'देशद्रोही' पढ़कर कहा था कि मेरा वर्णन अक्षरशः सत्य है। रामविलास जी को मुझसे ही मालूम हो गया था कि मैं पेशावर से आगे कभी नहीं गया। उन्होंने 'देशद्रोही' की आलोचना करते समय लिख दिया कि राहुल जी की तसदीक के बावजूद अच्छा होता यदि यशपाल स्वयं देखे क्षेत्र का ही वर्णन करता। इससे वर्णन और चित्र अधिक सजीव हो सकता। उदाहरणतः जैसे यशपाल की कहानी 'या साईं सच्चे' के क्षेत्र का वर्णन है। बाद में मुझे रामविलास जी को बताना पड़ा कि 'या साईं सच्चे' कहानी का क्षेत्र भी मेरी आँखों देखा नहीं है। उसे केवल लोगों से सुनकर ही जाना है। उदाहरण का अभिप्राय है कि मेरे लिये जीवन को जान सकने का सबसे बड़ा साधन तो अध्ययन ही है। वर्णित क्षेत्र या विषय का परिचय लेखक को होना ही चाहिये, वस्तु-परिचय का माध्यम केवल दो चरम चक्षु ही नहीं हैं, यदि मैं ऐसी सीख से बंध गया होता तो 'दिव्या' कभी न लिखता और रामविलास जी के मत में प्रगतिशील तुलसीदासजी रामायण न लिख पाते। 'देशद्रोही' लिखने की तैयारी मैंने अनेक यात्रियों के भ्रमण वृत्तांत और इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका से काफी सहायता ली। समझता हूँ पाठकों की अदालत में मैं असफल भी नहीं हुआ।

साथी लेखकों से प्रायः विषयों के अभाव की बात सुनी है। मुझे ये अभाव कुछ विशेष नहीं जान पड़ा। एक तो मुझे कई क्षेत्रों से विषय मिलते हैं, दूसरे शारीरिक रूप से सुविधा न होने पर समाज के विभिन्न अंगों की मानसिक संगति पाने की चेष्टा करता रहता हूँ। उसका साधन है पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं और

बातचीत द्वारा ग्राह्यता का अभ्यास। मेरे विचार में Write from life का अर्थ यही है।

तुरन्त विषय खोजने से चुनने में कठिनाई होती ही है। मेरा अपना अनुभव है कि समाज की संगति से समय-समय पर मन में बातें आती रहती हैं या समस्यायें उठती रहती हैं। लिखने का समय आने पर उसमें जो उग्र होती हैं, आगे आ जाती हैं। सबसे सफल वे रहती हैं, जो लिखने के लिये बाध्य कर दें। असली सौन्दर्य वही है जो परास्त कर दे। मेरे लिये विषय मुख्य रहता है। पात्र उसके अनुरूप मैं गढ़ लेता हूँ। पात्र को लेकर कहानी बनाने का यत्न मैं नहीं करता। ऐसा करने से मेरे विचार में, रचना कहानी के बजाय शब्द-चित्र बन जाती है।

कुछ लोग ऐसी जिज्ञासा भी करते हैं कि मैं सुबह लिखता हूँ या संध्या समय या रात में? नियमित रूप से लिखता हूँ या कभी-कभी? लिखते समय चाय अधिक पीता हूँ या सिगरेट? इस संबंध में किसी विशेष नियम का पालन नहीं कर सकता। बात लिखने के लिये हो तो किसी भी समय लिखी जा सकती है। ऐसा भी हुआ है कि दिन में दो कहानियाँ लिखी हैं और छः मास तक कोई नहीं लिख सका।

कुछ जिज्ञासुओं ने ऐसा भी प्रश्न किया है कि क्या मैं कहानी का पूरा रेखा-चित्र पहले बनाकर चलता हूँ? मैं प्रायः अपने विषय का स्पष्टीकरण करने वाली घटना की कल्पना कर लेता हूँ। फिर घटना के लिये परिस्थितियों की और उसके अनुकूल पात्रों की। ध्यान इस बात का जरूर रखता हूँ कि मेरी रचना वास्तविक जान पड़े। जब पाठक चाहे कि कहानी वास्तविक घटना के आधार पर है, तब कहानी-कला की दृष्टि से अपने प्रयत्न को सफल समझता हूँ। इस बात का ध्यान रखने की चेष्टा करता हूँ कि परिणाम या कहानी के अंत का अनुमान आरंभ या मध्य में न हो सके। वह अकस्मात् पाठक के सामने आये ताकि पाठक की रुचि कहानी में बनी रहे।

अपने ढंग का उदाहरण दूं: लखनऊ में रकाबगंज के पुल के पास बाजार के किनारे फुटपाथ पर एक बुढ़िया को खरबूजों की डलिया के सामने बैठे रोते हुये देखा। मन को ठेस सी लगी। सोचा, इसके रोने का कारण क्या हो सकता है? अनुमान किया, संभव है, इसके पुत्र की मृत्यु हो गयी हो। यह स्पष्ट ही दिखायी दे रहा है कि उससे सहानुभूति प्रकट करने वाला कोई नहीं है, क्योंकि वह साधनहीन है, छोटे लोगों में से हैं। जो साधन संपन्न हैं उनसे सहानुभूति प्रकट करने वालों की कमी नहीं होती। कल्पना में एक समृद्ध परिवार की पुत्र-शोक से पीड़ित स्त्री का चित्र सामने आ गया। दोनों चित्रों की तुलना 'दुख का अधिकार' कहानी बन गयी। यह कहानी 'पिंजरे की उड़ान' संग्रह में है। कुछ लोगों को कहानी पंसद आयी।

इसका अनुवाद फ्रेंच और रूसी भाषाओं में हो गया है। यहाँ के कुछ आलोचकों को यह कहानी केवल शब्द चित्र जान पड़ी थी।

दूसरा उदाहरण एक पांच बरस की बालिका को लज्जा के कारण अपने कुर्त्ते के आंचल से ही मुंह ढांपते देखा। उसके शरीर पर दूसरा कोई कपड़ा था ही नहीं। बालिका का भोलापन देखकर तुरंत ख्याल आया अज्ञान में केवल अभ्यास से लज्जा को ढांपने से क्या हो जाता है! इस लड़की की नीयत और व्यवहार में परस्पर कितना विरोध है! परिणाम में 'फूलो का कुर्त्ता' कहानी लिखी। हमारे एक प्रगतिशील आलोचक ने कहानी की आलोचना में लिखा था कि इस कहानी को कई बार पढ़कर भी उन्हें इसका अभिप्राय समझ में नहीं आया। लंदन जाने पर पता लगा कि चार्ल्स लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन को यह कहानी वर्तमान सभ्यता के ढंग पर इतना अच्छा विद्रूप जान पड़ा कि उन्होंने इसका अनुवाद अंग्रेजी में कर दिया था। बीसियों पाठकों ने बहुत चुभती हुई चीज बताया, पर आलोचक तो आलोचक हैं।

आजकल कुछ लोग मुझे कहानी के हुनर का छोटा-मोटा खलीफा समझने लग गये हैं। प्रायः ही कहानी पढ़कर राय देने या ठीक कर देने के अनुरोध सुनने पड़ते हैं। ऊपर के दो उदाहरणों से इतना तो स्पष्ट हो जाना चाहिये कि कोई कहानी मुझे या किसी आलोचक की न रुचने से ही असफल नहीं मान ली जा सकती है। ऐसा अनुरोध करने वाले ये नहीं सोचते कि किसी की कहानी पढ़ने और ठीक करने में समय लगता है और थकान भी होती है। आधा या पूरा दिन तो निकल ही जाता है। उस दिन का कुछ मूल्य न हुआ? अस्तु, पढ़ने के बाद यदि कह दिया कि इसे दुबारा लिख डालिये तो उदीयमान लेखक या लेखिका का चेहरा उतर जाता है। इतने कष्ट के लिये शायद ही कोई तैयार होता हो। अधिकांश उदीयमान कलाकार समझते हैं कि कहानी तो कला का तीर है, कमान से निकल गया, तो लौट थोड़े ही सकता है। पर शौक तीर चलाने का नहीं, लक्ष्य पर तीर मारने का होना चाहिये। चाहे तीर सौ बार क्यों न चलाना पड़े। मेरी कहानी यदि कम्पोजीटर के हाथ में हो और वह कह दे कि बात समझ में नहीं आयी, तो उसे मैं दोहराने के लिये व्याकुल हो उठता हूँ। मैनें देखा है कि पाठकों की आलोचना सुनकर कुछ लेखक जवाब देते हैं, 'आप बात समझे ही नहीं।' मेरी धारणा है कि पाठक समझा नहीं तो कसर मेरे कहने के ढंग में रही। आत्मविश्वास की इस न्यूनता का कारण शायद मेरी प्रतिभा की कमी ही हो। मुझे पाठक को संतुष्ट करने या उसके प्रति ईमानदारी निबाहने का भी ख्याल रहता है, क्योंकि उसका दिया खाता हूँ।

❑

भारतीय भाषाओं की यूरेशियायी भूमिका

●●

श्री राधेश्याम सिंह गौतम

बहुत प्राचीन काल में ही शब्द-निर्वचन की एक वैज्ञानिक पद्धति का विकास भारतवर्ष ने कर लिया था। भारतीय भाषाविदों द्वारा चिन्तन के प्रारम्भिक चरण में शब्द-विवेचन के लिए चाहे जो रीति अपनायी गयी हो, परन्तु अन्ततोगत्वा शाब्दिक अनुसंन्धान के केन्द्र में 'धातु' परक निर्वचन को ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। शब्द-निर्वचन के क्षेत्र में 'धातु' सम्बन्धी यह खोज भारतीय मनीषा की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है, और इस उपलब्धि का कालजयी स्मारक है श्री यास्क का निरुक्त। वस्तुतः 'धातु' या 'शब्दमूलक' ही वह विश्वसनीय बिन्दु है, जिसके आधार पर किसी शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। मैं यास्क का अनुगामी हूँ।

प्रस्तुत अध्ययन में भोजन सम्बन्धी शब्दावली,मुख्यतः मांस-मछली संबंधी शब्दावली समाविष्ट है। अन्नाहार से सम्बद्ध शब्दों का अध्ययन भविष्य में प्रस्तुत किया जायेगा।

मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं में से भोजन भी एक अनिवार्य आवश्यकता है। आहार के अभाव में जीवन-यात्रा असम्भव है। और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि कृषि से अनभिज्ञ आदिम मनुष्य की थाली में, वह थाली पत्तों की ही क्यों न रही हो, भोजन की जो सामग्री परोसी गयी हो, उसमें मांस,कन्द-मूल,फल का ही समावेश रहा होगा, उसने कुछ पत्तों का भी आस्वाद लिया होगा। बस ये ही रहे होंगे खाद्य पदार्थ, क्योंकि माता अन्नपूर्णा का पदार्पण अभी उसकी गुफा में न हो सका था।

मांस-मछली के साथ-साथ इस अध्ययन में तरकारी-सूचक शब्दों को भी सम्मिलित किया गया हे। तरकारी-सूचक शब्दों को मांस के साथ, विशेषकर मछली के साथ रखकर अध्ययन करने की प्रेरणा मुझे मिली है। डॉ० भिक्षु कौण्डिन्य की त्रिमाषा बोधिनी के 'देउरी' वाले भाग की निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से[१]-

न मक होबेम्ना (-आपने भात खाया)

दाम्दि जबुरा- सब्जी क्या थी ?

छियांय जबुरा- मछली की सब्जी थी।

शतपथ ब्राह्मण में मांस को सर्वोत्तम अन्न कहा गया है[२], यह अद्भुत कथन है। आधुनिक युग के व्यक्ति का मास्तिष्क 'अन्न' से धान, गेहूँ जैसे अनाज का ही अर्थ ग्रहण करता है। उसके 'अन्न' के वृत्त में मांस नहीं आता। लेकिन शतपथ ब्राहण का कथन समीचीन भी है। मांस सर्वोत्तम अन्न है कि नहीं, यह विवाद का विषय हो सकता है। लेकिन मांस भी एक अन्न है, श्री यास्क 'अन्न' को 'अद्(=खाना, भोजन करना) से सम्बद्ध करते है। एक भोज्य सामग्री है, यह निर्विवाद तथ्य है।

निरुक्त में मांस की व्याख्या की गयी है जिसका मान किया जाता है अथवा जिसकी इच्छा की जाती है, वह मांस[२]। किन्तु इस निर्वचन से मेरी विनम्र असहमति है। मांस को मैं इतावली भाषा में 'मान्जारे' (=भोजन करना, खाना) से सम्बन्धित मानता हूँ। अंग्रेजी का मन्श Munch (इस प्रकार चबाते खाना जिसमें आवाज हो) भी यहाँ स्मरणीय है। निरुक्तकार की मांस सम्बन्धी उपर्युक्त व्याख्या श्री यास्क के चिन्तन की नहीं, सूचनाओं की सीमा है। यदि उनके समक्ष मान्जरे जैसी क्रिया उपस्थित रहती, तो वे भी इसी क्रियापद से मांस को व्युत्पन्न मानते।

अब भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त मांस, मछली, तरकारी इत्यादि से सम्बन्धित शब्दों का विवरण-विवेचन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रारम्भ अरूणाचल प्रदेश की भाषाओं से।

अरूणाचन प्रदेश की बारह भाषाएँ मांस के लिए आदिन्, एदिङ् जैसे शब्दों का प्रयोग करती हैं, जैसे- गालो-आदिन, हिलमिरी-एदिन्, पादाम्-आदन्, तागिन-आदिन् कारको-आदीन, मिसिङ्-आदिन्, बोरी-आदिन्, मिलाङ्-आदिन्, मिन्योङ्-आदिन्, पाइलिबो-आदिन्, नाअ्-आदिन, निशी या निशिङ्-एदिङ्। मांस-सूचक इस सूची में रूसी के गव्यादिना (गोमांस) और चेक भाषा के रोशत्येना (भुना हुआ मांस) को भी सम्मिलित करना होगा और सम्मिलित करना होगा नागाप्रदेश की यिमचुङार

१. देखें डॉ० भिक्षु कौण्डिन्य द्वारा लिखित त्रिभाषा बोधिनी (देउरी), द्वितीय संस्करण - पृ० १९ पर।

२. देखें शतपथ ब्राहमण- ११/७/३।

भाषा के थङ् (=मछली) मणिपुर प्रदेश की मरिङ् भाषा के थङ (=मछली) अरूणाचल प्रदेश की इदू भाषा के ताङ (=मछली) को भी। आदिन (=मांस) की ही कड़ियाँ दिखाई देती हैं। अरूणाचल प्रदेश की इदू भाषा के ताना (=तरकारी) और हिन्दी की मगही बोली के तीअन (=तरकारी) में।

देउरी जैंसी उपर्युक्त अभिव्यक्ति की अनुगूँज भोजपुरी (कोशिका) क्षेत्र में भी सुनाई देती है। इस क्षेत्र में कुछ लोग मछली के लिए 'जलतरोई' शब्द का प्रयोग करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि तरोई एक तरकारी है, एक सब्जी है, एक वानस्पतिक उत्पाद है और मछली एक जलचर जीव है। लेकिन दोनों में समानता भी है। आधुनिक जीवन में न तो मछली मुख्य भोजन है और न तरकारी ही। दोनों ही सहायक खाद्य पदार्थ हैं। दोनों का अपना महत्त्व है, अपनी भूमिका है। अमिषभोजी के लिए जो मांस है, शाकाहारी के लिए वही स्थान तरकारी का है। यही नहीं मांसभोजी और और शाकाहारी दोनों ही चटपटे मसालों के द्वारा तरकारी को ज़ायकेदार बना डालते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मांस-मछली और तरकारी को एक ही दृष्टि से यदि लोकमानस देखे, तो आश्चर्य न होना चाहिए। इसीलिए इस अध्ययन में यूरुप की स्वीडिश भाषा के कोयट (=मांस) और हिन्दी की कढ़ी (=पकौड़ी, बेसन इत्यादि की बनी दाल), अरूणाचल प्रदेश की जोग्लि भाषा के वेशु (=तरकारी) और इतालवी भाषा के पैशे (=मछली), अरूणाचल प्रदेश की देउरी भाषा के पिचु (=मांस और हिन्दी की भाजी (=सब्जी-भाजी का भाजी), प्राकृत के तरसि (=मांस) तमिल के तसि (=मांस Flesh) नागाप्रदेश की अंगाभी भाषा के त्स, त्व (=मांस) और चीनी भाषा के श्रुत्साए (=सब्जी) संस्कृत के शाकम (=पत्तों की तरकारी) तथा नागाप्रदेश की यिमचुङर (=मोकोरी बोली) के शोक (=मांस), सिक्किम की लेप्चा भाषा के आच्योक (=मांस) और बिहार की खड़िया भाषा के चाखना (=तरकारी), प्राकृत के डाग (=तरकारी) और खड़िया के डाअ् (=मांस), अरूणाचल प्रदेश की आदी समुदाय की कुछ भाषाओं में प्रयुक्त आदिन (=मांस) और हिन्दी की मगही बोली के तीअन (=तरकारी) और अरूणाचल की इदू भाषा में ताना (=तरकारी) बोडो भाषा के बेदोर (=मांस) और इतालवी के बेरदुरा (=तरकारी) जैसे शब्दों को एक साथ रखा गया है।

मांस-मछली सूचक शब्दों, खाना-सूचक क्रियाओं और भोजन-सूचक संज्ञापदों के परिप्रेक्ष्य में हम देखेंगे कि भारतवर्ष की भाषाओं में कोई आन्तरिक सम्बन्ध है या नहीं, इन शब्दों के माध्यम से एशिया और यूरुप के भाषायी रंगमंच पर भारत ने कौन-सी भूमिका अदा की है, भारत का भाषायी अवदान क्या है, यह देखने का भी हमारा प्रयास होगा ।

ौर चेक भाषाओं को छोड़कर अरूणाचल प्रदेश की जिन भाषाओं ने आदिन
ांस-सूचक शब्दों को प्रयुक्त किया है, उन भाषाओं में इनसे सम्बद्ध खाना-
क्रियापद 'दोनाम' 'दनाम' तथा 'देनाम' जैसा रूपों में उपलब्ध हैं। यदि इन
ों और इनसे सम्बद्ध मांस-सूचक शब्दों की तुलना कीजिए तो यह स्पष्ट
विदित होता है कि उक्त भाषाओं ने अपनी क्रियाओं के धातु-रूपों में 'न्' के
ा से संज्ञापनों का निर्माण कर लिया है। उदाहरणार्थ नाअ् Nah भाषा में
ूचक क्रिया 'देनाम' है। 'देनाम' की धातु 'दे' है। 'नाम्' क्रियासूचक शब्द
'दे' में 'न्' को संलग्न कर और प्रारम्भ में 'आ' उपसर्ग के प्रयोग से 'आदिन्'
ार्ण हो गया है। शब्द-निर्माण के इस कौशल को यानी 'न्' को जोड़ने वाले
को ध्यान में रखकर देखें तो पादाभ का अदन् (मांस) संस्कृत की 'अद्'
) धातु में 'न' जोड़ेकर निर्मित किया गया शब्द जान पड़ेगा। जब 'अदन्' की
की जा सकती है जो 'अद्' यानी खाया जाता है, वह है 'अदन्'।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'देनाम', 'दनाम' खानासूचक क्रियाओं के 'द' जैसे
में 'न्' के संयोजन से हिन्दी का दाना, संस्कुत काा धान्य (=अनाज) जैसा
ार्मित हुए हैं। अब यह कहा जा सकता है कि अरूणाचली भाषाओं के आदिन्
ां यदि मांसाहार का प्रतिनिधित्व है तो हिन्दी के दाना और संस्कृत के धान्य
र का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु दोनों प्रकार की शब्दावली में आहारत्व
त है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

'आदिन्' 'अदन्' जैसे मांस-सूचक, दाना और धान्य जैसा अन्न-सूचक,
ौर तिअन जैसे तरकारी सूचक खाद्य पदार्थों से सम्बद्ध जो क्रियापद हैं, वे
की दक्षिणापथ की भाषाओं के हैं, वे युरुप की कतिपय भाषाओं के भी हैं।
म्बन्ध में अंग्रेजी की ईट (eat) एंग्लोसैक्सन अंग्रेजी की etan, डच की eten
ऽ की itan जैसी खाना-सूचक क्रियायें तथा तेलुगु की तिनुट, कन्नड़ की
ु, मलयालम की तिन्नुक जैसी खाना-सूचक क्रियाएँ ध्यातव्य हैं। स्पेनी के
डिनर खाना) में 'त्' ध्वनि 'थ्' में परिवर्तित हुई हैं किन्तु फ्रांसीसी के दिनेर
r में 'द्' ही है जो 'आदिन्' आदि में प्रयुक्त हैं।

चाहे तिब्बती भाषा का 'तोन मो'[1] (=भोज-दावत) हो या स्पेनी थेना, या
ी का dinner या अंग्रेजी का डिनर (=रात का मुख्य भोजन), इन सभी के
ान में अरूणाचली आदिन (=मांस), हिन्दी के दाना या संस्कृत के धान्य
ाज) की भूमिका को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

भाषाविदों ने 'त्' के 'च्' में तथा 'द्' के ज् में रूपान्तरण को स्वीकार किया

ो' यह उच्चरित रूप है, इसका लिखित रूप 'स्तोन मो' है।

है, और इनसे रूपान्तरीकृत शब्दों को परस्पर सम्बद्ध माना है। ग्रीक के देर्म (=चमड़ा) और संस्कृत के चर्म (=चमड़ा) के सम्बन्ध को कोई अमान्य नहीं करता। अतः अरूणाचली भाषाओं के आदिन एदिङ (=मांस) को मणिपुर प्रदेश की काबुई भाषा के जान् (=मांस), प्राकृत भाषा के जंगल (=मांस), अरूणाचल प्रदेश की मिजि भाषा के शु चुङ् (=मांस), हिन्दी के झिनगा (=मछली विशेष) को परस्पर सम्बन्धित मानने में संकोच न होना चाहिए। इसी प्रकार संस्कृत की अत्ति (=खाता है) और नागा प्रदेश की आओ भाषा के आचि achi (=खाना) में भी कोई न कोई सम्बन्ध है, यह स्वीकार करना होगा। ऊपर आदिन (=मांस) जैसे शब्दों के सन्दर्भ में अन्नाहार का प्रतिनिधित्व करने वाले हिन्दी के दाना और संस्कृत के धान्य (=अनाज) का उल्लेख आ चुका है। जान्, जंगल, झिनगा जैसे मांसाहार सम्बन्धी शब्दों के मेल में जो अन्नाहार सम्बन्धी शब्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं, उनमें से मुख्य हैं संस्कृत का चनः (=अनाज), नागाप्रदेश की आओ भाषा का चाङ् (=चावल) और उसी भाषा का चेन्चाङ (=धान विशेष) तथा चेन्दाङ् (=धान्यागार) मणिपुर प्रदेश की मइले (=मणिपुरी) भाषा का चेङ (=चावल) अरूणाचल प्रदेश की तागिन भाषा का आचिन् (=भात्, भोजन), नागा प्रदेश की आओ भाषा का चि (भात) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली का झींक (=जाँता पीसते समय गेहूँ आदि की एक बार में डाली जाने वाली मात्रा, और जोन्हरी (=मक्का))।

जिस प्रकार से तिब्बती के तोन मो (=भोज, दावत) या अंग्रेजी के डिनर (=रात का मुख्य भोजन) के सन्दर्भ में अरुणाचली 'आदिन' (=मांस) और हिन्दी का 'दाना' स्मरणीय हैं, उसी प्रकार से इतावली के चेना (=डिनर का वृत्त पूरा न हो सकेगा, यदि उसमें संस्कृत का चन (=अनाज) आओ का चेनचाङः (=धान विशेष), तागिन् का आचिन (=भात) या प्राकृत का जंगल (=मांस), काबुइ का जान् (=मांस) हिन्दी का झिनगा (=मछली विशेष) जैसे शब्द समाविष्ट न किये जाएँगे।

अभी तक खाद्य पदार्थों की बात की गयी है, खाद्य पदार्थों में भी मांस-मछली पर ही मुख्यतः दृष्टि टिकी रही है। जिज्ञासा उठनी स्वाभाविक है कि आदिन (=मांस), ताना (=तरकारी) ओदन (=भात) जैसी खाद्य वस्तुएँ जिन पात्रों में रखकर परोसी जाती रही होंगी, उनकी क्या संज्ञा थी, उन पात्रों के नाम क्या थे, इनका भी संज्ञान आवश्यक है, क्योंकि भोजन-पात्र सूचक शब्दों की पृष्ठभूमि में भी आहार-सूचक शब्दों को अध्ययन किया जा सकता है और इनके परिप्रेक्ष्य में भी भाषाओं के मध्य विद्यमान सम्पर्क-सूत्रों की खोज की जा सकती है।

भोजन-पात्र सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत करने के पूर्व यह निवेदन करना उचित प्रतीत होता है कि तत्सम्बन्धी सामग्री मेरे द्वारा अपेक्षित मात्रा में संकलित

नहीं की जा सकी है। सीमित सूचनाओं के आधार पर किसी निष्कर्ष तक तो पहुँचना कठिन होगा, किन्तु कुछ संकेत अवश्य प्राप्त होंगें जिनके द्वारा भविष्य में वैचारिक यात्रा आगे बढ़ाई जा सकती है।

आदिन (=मांस) ताना (=तरकारी) ओदन (=भात) अथवा तिब्बती के तोन मो (=भोज, दावत) स्पेनी के थेना और अँग्रेजी के डिनर के सन्दर्भ में हमें संस्कृत के द्रविणसः (=सोप पीने का पात्र) हिन्दी के दोना (=पात्रों का बना कटोरा) और नागाप्रदेश की चाङ् माषा के थुङ्[1] (=बाँस का बना प्याला, गिलास) का स्मरण आना स्वाभाविक है। कोई सन्देह नहीं है कि निरूक्त में द्रविणसः को सोमरस पीने का पात्र बताया गया है, किन्तु वह भोजन करने का भी पात्र रहा होगा, जैसा कि गस् से विकसित हिन्दी के दोना का उपयोग होता है। दोनों में मिठाई भी खाई जाती है और दही भी पी जाती है। मीराबाई की 'दूधमाता की दोनी देइहौं' सी उक्ति से भी इसकी पुष्टि होती है। कि दोना और द्रविणसः ही भोंजन-पात्र और पान-पात्र के रूप में प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं।

हिन्दी का दोना (पत्तों का कटोरा) ओर नागा प्रदेश की चाङ् भाषा का थुङ् (=बाँस को काटकर बना गिलास,कटोरा) सभ्यता के उस आदिम स्तर का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, जब मनुष्य को मिट्टी के बरतन बनाने की कला ज्ञात न थी। अब हम कह सकते हैं कि आदिन (=मांस), ताना (=तरकारी (ओर ओदन (=भात) के भोक्ताओं, तथा द्रविणसः (=सोम पात्र) दोना (=पत्तों का कटोरा) थुङ् (=बाँस का बना प्याला, गिलास) के प्रयोक्ताओं, तिन्नुट (=खाना), तिन्नुक (खाना), तिन्नुवुदु (=खाना) या डिनर (=रात का मुख्य भोजन) जैसे शब्दों के प्रयोक्ताओं के मध्य-नृवंशीय दृष्टि से चाहे वे आर्य हो, मंगोल हो, द्रविण हों, उस काल में ही सम्पर्क स्थापित हो चुका था, जब वे सभ्यता के आदिम स्तर का जीवन जी रहे थे।

'त्' और 'व्' तथा 'द्' और 'ज्' के ध्वनि-परिवर्तन के आलोक में आदिन (=मांस) तथा दाना एवं धान्य (=अनाज) तथा काबुई भाषा के जान् (=मांस), मिजि के शु चुङ् (=मांस) प्राकृत के जंगल (=मांस) अथवा संस्कृत के चनः (=अनाज), नागा प्रदेश की आओ भाषा के चेन्चाङः (=धान विशेष) के पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख हम देख चुके हैं। अब देखना चाहिए कि 'जान्' (=मांस) चनः (=अनाज) आचिन (=भात), चेना (=डिनर) के सन्दर्भ में भोजन-पात्र सूचक शब्दों की क्या स्थिति है। मणिपुर की काजुइ भाषा के जान् (=मांस) प्राकृत के जंगल (=मांस) अरूणाचल की मिजिभाषा के शुचुङ (=मांस), संस्कृत के चनः (=अनाज) नागाप्रदेश

१. अरुणाचल की मिसिङ् भाषा का अतुङ/एतुङ (=बाँस का बड़ा चोंगा जो पानी-भरने या उसे लाने में प्रयुक्त होता है) दीर्घ संस्करण है 'थुङ्' का।

की आओ भाषा के चाङ् (=चावल), मणिपुरी भाषा के चेङ (=चावल), अरूणाचल प्रदेश की तागिन भाषा के आचिन (=भात) तथा इतालवी के चेना (=डिनर) के सन्दर्भ में कोरियायी भाषा के जान् (=गिलास) बाहासा इन्दोनेसिया के चाङ्कीर (=प्याला), प्राकृत के चंगवेर (=लकड़ी का बना बरतन विशेष) जैसे पात्रों को प्रस्तुत किया जा सकता है। चाङ्कीर के चाङ् या चंगवेर के चंग को नागाप्रदेश की साङतम भाषा शिङ् (=गिलास) और उसी प्रदेश की आओ भाषा साङ् (यिसाङ का साङ्) के रूप में प्रयुक्त करते हैं। 'यिसाङ' पत्तों का वह दोना है या वह दोनी है जिसमें पूजा के समय भगवान लिचाबा (=ब्रह्मा) को नैवेद्य के रूप में 'यि' (=चावल की बनी शराब) परोसी जाती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जान (=मांस) या चनः (=अनाज) से सम्बन्धित मांसाहार और अन्नाहार की शृंखला में भी आदिम स्तर के भोजन-पात्र के रूप में चाङकीर, चङबेर जैसे शब्दों का प्रयोग विद्यमान है।

श्रीलंका सिंहल भाषा का संस्कृत पालि से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भाषा संस्कृत के 'चन्द्र' को 'सन्द' रूप में ग्रहण करती। यदि इस ध्वन्यात्मक परिवर्तन को ध्यान में रक्खा जाये, तो न केवल संस्कृत का चनः (=अनाज) और संस्कृत का ही सिनम् (=अनाज) परस्पर सम्बन्धित ज्ञात होंगे, बल्कि अन्नाहार की पूर्ववर्ती शृंखला के रूप में अरूणाचल प्रदेश की सिङ्फो भाषा का सान् (=मांस) असम प्रदेश की तीबा जनजाति की तीबा भाषा का हान् (=मांस) चीनी भाषा का छू हुअन त (=मांसाहारी) का हुअन भी, सान् के सहचर ज्ञात होंगे। ये संस्कृत के चनः (=अनाज के भी संगोत्री ज्ञात होंगे। सिङ्फो के सान् (=मांस) की 'स्' ध्वनि का तालव्यीकृत रूप विद्यमान है अरूणाचल प्रदेश की मिजु भाषा के शिन् (=मांस) में। चाहे शिन् (=मांस) हो या सान् (=मांस हो, या संस्कृत का सिनम् (=अनाज) हो, सभी में विद्यमान आहारत्व को सूचित करने वाला शब्द है । संस्कृत का अशन (=अन्नप्राश का अशन) संस्कृत की ही क्रिया है। अश्नाति (=खाता है) जो सूचित कर रही है कि मिजु का 'शिन' (=मास) भी खाद्य है। संस्कृत के 'अशन' को प्राकृत 'असण' को (=भोजन) के रूप में प्रयुक्त करती है, यह तथ्य ध्यातव्य है। अब शिन (=मांस), सान् (=मांस) अथवा सिनम (=अनाज) की शृंखला के शब्दों पर भी जान (=मांस) शुचुङ् (=मांस) या चनः (=अनाज) के परिप्रेक्ष्य में विचार करना चाहिए।

पहले हम अरूणाचल प्रदेश की सिङफो भाषा के मांससूचक शब्द 'सान्' को लेंगे,तत्पश्चात उसी प्रदेश की मिजु भाषा के मांससूचक शब्द 'शिन' पर विचार किया जायेगा।

सिङफो भाषा का 'सान्' (=मांस) सम्बन्धित है प्राकृत के 'सोणिअ' (कसाई यानी मांस बेचने का धंधा कराने वाला) से। इसका वंशज है कोरियायी भाषा का

Saengseon (=मछली) जो मणिपुरी प्रदेश की कुकी भाषा की वाइफे बोली में प्रयुक्त 'सङा' (=मछली) और मिजोडरम की मिजोड़ भाषा के 'सङ्हा' तथा मणिपुरी की अनान/अनाल अनजाली की अनान/अनाल भाषा में 'हङ्' का भी निकटस्थ है। 'सान् की 'स्' ध्वनि 'ह' में परिवर्तित होकर असम प्रदेश की तीवा जनजाति की तीवा भाषा में यही शब्द 'हान्' रूप में व्यवहृत होता है। 'हान' के 'ह्' ही उष्मता क्षीण होकर केवल 'अन' शेष रहता है और मणिपुर प्रदेश की मरिङ् जनजाति की मरिङ् भाषा में भी 'अन' सूचक है मांस का। चीनी भाषा के छे् हुअन त (आभिषभोजी) के 'हुअन' की अर्थवत्ता के संज्ञान के लिए यह आवश्यंक है कि मांससूचक शब्द 'सान' से हम परिचित हों।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में अरूणाचल की मिसङ, कारको इत्यादि भाषाओं के मांससूचक शब्द 'आदिन्' 'आदन्' के सन्दर्भ में संस्कृत के 'धान्य' (=अनाज) या हिन्दी के 'दाना' जैसे शब्द आ चुके हैं, जो अन्नाहार का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार काबुई के 'जान', प्राकृत के 'जंगल' जैसे मांससूचक शब्दों के सन्दर्भ में अन्नाहार के प्रतिनिधित्व स्वरूप संस्कृत के 'चनः' (=अनाज) या मणिपुरी के 'चेङा' (=चावल) जैसे शब्दों से हम परिचित हो चुके हैं। प्रश्न उठता है कि 'सान्' (=मांस) से भी सम्बन्धित अन्नाहार की कोई शब्दावली है क्या? शब्दवली है। और यह शब्दावली माँग करती हैं कि भारत की शब्द सम्पदा का पुनर्मूल्यांकन किया जाय।

सिङ्फो के 'सान्' (=मांस) से जो अन्नसूचक शब्द सम्बद्ध किये जा सकते हैं उनमें संस्कृत के सिनम् (=अनाज), नागाप्रदेश की समी/सेमा भाषा का 'आसेना' asuna (=धान विशेष) और उसी प्रदेश की लोथा भाषा का 'ओसोन' (=धान्यागार) तथा अरूणाचल प्रदेश की खाम्ति भाषा का खाउसान (=चावल) जैसे शब्दों की गणना की जा सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं से सम्बद्ध है हिन्दी का अन्नसूचक शब्द 'हन' जो 'दलहन,' तिलहन में प्रयुक्त हैं संस्कृत के 'सिनम' (=अनाज) से केवल 'अन्न' का बोध होता है। कौन सा अन्न? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त होता है नागाप्रदेश की समी/सेमा भाषा के 'आसेना' (=धान विशेष) से, और इन्हीं के भण्डारण के लिए लोथा भाषा ने किसी ओसोन् (=धान्यागार) का निर्माण किया होगा। यह है भारतीय भाषाओं में विद्यमान अन्योन्याश्रित सम्बन्धों की एक झलक तथाकथित आर्य, मंगोल जैसी नृवंशीय भाषायी अध्ययन की दृष्टि से यह आन्तरिक एकता ज्ञात न हो सकेगी।

चाहे सिङ्फो भाषा का 'सान' (=मांस) हो या संस्कृत का 'सिनम' (=अनाज) या सेमा/समी का 'आसेना' (=धान विशेष), या खाम्ति का 'खाउसान' (=चावल), इनके भोजनत्व की सूचना प्राप्त होती है जर्मन की essen (=खाना, भोजन करना)

क्रिया से इस सम्बन्ध में प्राकृत का 'असण' (=भोजन), भोजपुरी (=काशिका) का 'अनसन' (=अनशन यानी भोजन न करना), हिन्दी की बज्जिका बोली का 'अर्गासन' (=पितृपक्ष में पितारों को अर्पित नैवेद्य), प्राकृत का आहेण' (=वर के गृह में वधु के प्रवेशोत्सव पर दिया जाने वाला भोज) कारबि का आन (=भात), मणिपुर प्रदेश की वाइफेबोली का अन (=भात) जैसे शब्द उल्लेखनीय हैं। आहार सम्बन्धी इस वृत्त को पूरा करते हैं फारसी का 'सीनी' (=एक प्रकार की थाली), असम प्रदेश की कारबि जनजाति की कारबि भाषा का 'सिने' (=प्याला) और नागाप्रदेश की आओ भाषा का यिसाङ् (=भगवान लिचाबा को 'यि' यानी चावल की शराब अर्पित करने का दोना) जैसा शब्द। 'सीनी' 'सिने' 'साङ्' (=यिसाङ का साङ) जैसे भोजन सूचक पात्रों के लिए यदि किसी सामूहिक शब्द की खोज का प्रयास होगा तो इनके लिए भोजपुरी (=काशिका) के 'बासन' (=बरतन) से बढ़कर और कोई शब्द उपयुक्त न प्रतीत होगा। संभव है कि कुछ पंडित बासन (=बरतन) और सिने या सीनी के सम्बन्ध को न स्वीकार करें क्योंकि 'बासन' में 'बा' एक अतिरिक्त ध्वनि जुड़ी है, जो सिने या सीनी या साङ (=यिसाङ का साङ) में अनुपस्थित है। ऐसे पंडितों से हम यह कहना चाहेंगे कि सिङ्फो के साने (=मांस) की भी एक ऐसी श्रृंखला है जिसमें 'ब्' या 'प्' ध्वनि संयुक्त है, उदाहणार्थः त्रिपुरा प्रदेश की ककबरक भाषा का बाहान (=मांस) और भोजपुरी (=काशिका) का पहिना (=मछली विशेष)। सारांश यह है कि भोजपुरी के 'बासन' (बरतन,पात्र) और सिने या सीनी (प्याला,थाली) में यदि कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाय तो असमीचीन न होगा।

ऊपर लिखा जा चुका है कि खाम्ति के 'सान' (मांस) की 'स्' ध्वनि का तालव्यीकृत रूप अरूणाचल प्रदेश की मिजु भाषा के 'शिन्' (=मांस) में व्यवहृत्त है। इस 'शिन्.को हम संस्कृत के शौणिक (=कसाई यानी मांस-विक्रेता), उसी भाषा का अशन (=भोजन) या महाशनः (=अधिक मात्रा में खाने वाला) या अश्नाति (=खाता है) हिन्दी के अनशन (=अपनी माँग को स्वीकृत कराने के लिए भोजन परित्याग का राजनेताओं का एक अहिंसात्मक हथियार) की श्रृंखला का शब्द मानते हैं, जिनके अर्थ प्रसार की एक रेखा रूसी भाषा के ऊशिन (=डिनर) में भी विद्यमान हैं। जहाँ तक इस भोज्य पदार्थों के पात्र का सम्बन्ध है, हम नागा प्रदेश की साङ्तम् भाषा के शिङ् (=प्याला गिलास) को प्रस्तुत करना चाहेंगे।

संस्कृत के ददर्श (देखा) और ग्रीक दे देदरक जैसे प्रयोगों को देखकर पश्चिमी भाषाशास्त्रियों ने मूल भारोपीय भाषा में एक तालाव्य 'क्' के अस्तित्व की कल्पना की है। तालव्य 'क्' वाली ऐसी कल्पना संस्कृत के आश्नाति (=खाता है) और अशन (=भोजन), रूसी के आशिन (=डिनर) तथा लातिन के केना (=डिनर)

के संदर्भ में भी की जा सकती है। पश्चिमी पंडितों की तालव्य 'क्' वाली अवधारणा में कितनी वास्तविकता है, इसपर हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ हम केवल इस तथ्य को रेखांकित करना चाहेंगे कि जिस प्रकार से संस्कृत के ददर्श और ग्रीक के देदरक में निकट का सम्बन्ध है, उसी प्रकार से संस्कृत के अश्नाति (=खाता है) और लातिन के केना (=डिनर) में भी निकट का सम्बन्ध है, किन्तु सम्बन्धों की इस परिधि में अरूणाचल प्रदेश की खाम्ति भाषा के किन् (=खाना) और सिंहल की कनवा (=खाना) को भी सम्मिलित करने की आवश्यकता है।

अब मांससूचक और अन्नाहार-सूचक उस शब्दावली पर एक संक्षिप्त विवरण-विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा, जिसमें अरूणाचल प्रदेश की मिजु भाषा के शिन् (=मांस), संस्कृत के अश्नाति (=खाता है) की 'श्' ध्वनि के स्थान पर 'क्' ध्वनि प्रयुक्त है, और जो लातिन के केना cena (=डिनर) जैसे शब्दों से मैत्री-स्थापित करती है।

जिस प्रकार से नागाप्रदेश की आओ भाषा के 'शि' (=मांस) में 'न्' के संयोजन से अरूणाचल प्रदेश की मिजु भाषा का 'शिन्' (=मांस) निर्मित हुआ है, अथवा जिस प्रकार से संस्कृत के अश् (=खाना) में 'न्' के संयोजन से संस्कृत में ही अश्नाति (=खाता) है का निर्माण हुआ है, कुछ उसी प्रकार की शब्द-निर्माण की पद्धति लातिन के कारो (=मांस) और स्पेनी के कार्ने (=मांस) में भी अपनायी गयी है। यही नहीं, संस्कृति के कृदरम् (=धान्यागार) में प्रयुक्त कृ (=अनाज), भोजपुरी (=काशिका) के गूरी (=कूटकर छिलके के निकाले हुए जौ की संज्ञा) में 'न्' के संयोजन के अंग्रेजी के ग्रेन् (=अनाज), ग्रेनरी (=धान्यागार) जैसे शब्द भी निर्मित हुए ज्ञात होते हैं।

स्पेनी के कार्ने (=मांस) इतालवी के कार्नों (मांस की 'र्' ध्वनि का स्थगन हुआ है दक्षिणापथ की तेलुगु भाषा के कण्ड (=मांस) में इन्हीं के सगोत्रीय हैं नागा प्रदेश की अंगाभी भाषा का 'गान्या गारा' (=शाक-सब्जी), उसी प्रदेश की ज़ेमे/ ज़ेमी भाषा का गिनेइ (=सब्जी) उसी प्रदेश की समी/सेमा भाषा का आखुनि (=नागा दाल विशेष)। 'आखुनि' अरहर की जाति का पौधा हैं इसमें कोई सन्देह नहीं कि आखुनि एक वानस्पतिक उत्पाद है, किन्तु इसका प्रयोग सब्जी के रूप में होता है और इसे मांस का स्थानापन्न भी मान सकते हैं। सेमा भाषा की इस आखुनि के सन्दर्भ में हिन्दी का घुघुनि (=तला-भुना चना या मटर) भी ध्यातव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि कारो (=मांस) का कार्ने (=मांस) का भोक्ता मानव जब कृषि विज्ञान से परिचित हो गया, तो इसी परिचित शब्दावली का प्रयोग उसने उस भोज्य सामग्री के लिए भी किया, जिसे आज अन्न की संज्ञा दी जाती है। इस अन्नाहार के

मुख्य सदस्य हैं फ्रांसीसी भाषा का कोर (=दाना) संस्कृत के कृदरम में प्रयुक्त कृ (=अनाज), अंग्रेजी का ग्रेन (=अनाज), इतावली का गार्नो (=गेहूँ), स्वीडिश का कोर्न (=जौ), नार्वेजियन का कोण (=अनाज), संस्कृत का कणम् (=चना) भोजपुरी (=गोरखपुरी) का कँगुनी (=अनाज विशेष), काश्मीरी का कनख (=गेहूँ), संस्कृत का किण्व (=शराब बनाने में प्रयुक्त उबाला हुआ चावल), मराठी (वैदर्भी) का किराणा (=दुकान में गेहूँ, चावल इत्यादि खाद्य वस्तुओं की सामूहिक संज्ञा। इन्हीं ग्रेन् (=अनाज) कोण (=अनाज) की पृष्ठभूमि में ही हिन्दी के कुनबी (=खेती करने वाली सुप्रसिद्ध जाति विशेष) के मूल अर्थ का उद्‌घाटन किया जा सकता है।

स्पेनी के कार्ने (=मांस) आदि भोज्य-सामग्री के सन्दर्भ में पंजाबी का खाणा (=भोजन) कश्मीरी का ख्यन (=भोजन), नेपाली का खानु (=भोजन) सिंहल का कनवा (=भोजन करना) सिन्धी का खाना (=भोजन), सिंहल का कन्न (=भोजन) नागाप्रदेश की साङतम भाषा का काङरे (=पालन-पोषण करना) जैसे शब्द द्रष्टव्य हैं। इनसे सम्बन्धित भोजन-पात्र हैं संस्कृत का कुन्तल (=कटोरा), फारसी का खवान (=बड़ी थाली या तश्तरी) ख्वान्चः (=छोटी थाली), ओड़िया का गिना (=कटोरी), दक्षिणापथ की तेलुगू भाषा का गिन्ने (=प्याला) तमिल का किण्णम (=प्याला), हिन्दी का कुंडी[1] (=भोजन-पात्र, विशेषकर साधुओं द्वारा प्रयुक्त), पूर्वापथ में अवस्थिति मणिपुर की वाइफे जनजाति थी वाइफे भाषा का कोङ् (थाली)। वाइफे की भाँति मणिपुर की कुछ और जनजातियों की भाषाएँ थाली के अर्थ में कोङ् का प्रयोग करती हैं। इस सन्दर्भ में जर्मन भाषा का kanne (=डिब्बा, जग नामक पात्र) भी स्मरणीय है।

निष्कर्षः

१- यूरुप की लातिन, स्पेनी, इतालवी फ्रांसीसी, अंग्रेजी और रूसी भाषाएँ 'डिनर' (=रात का मुख्य भोजन) के लिए क्रमशः केना, थेना, चेना,दिनेर, डिनर तथा उशिन शब्दों का व्यवहार करती हैं। डिनर-सूचक इन सभी शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या भारतीय भाषाओं के शब्दों की सहायता से की जा सकती है। डिनर में चाहे मांस जैसी खाद्य वस्तुएँ रहें, या उसका सम्बन्ध अन्नाहार से हो, इन सभी से सम्बन्धित क्रियापद भारतीय भाषाओं में उपलब्ध हैं। पूर्ववत्री पृष्ठों में लातिन के केना के प्रसंग में अरूणाचल प्रदेश की खाम्ति भाषा के किन् (=खाना), स्पेनी के थेना के प्रसंग में -तिब्बती के तोन मो (=भोज, दावत) के प्रसंग में भी -दक्षिणापथ की तेलुगु भाषा के तिन्नुट (=खाना), इतालती के चेना तथा रूसी के उशिन के प्रसंग में संस्कृत के अश्नाति (=खाता है) जैसे प्रयोग ध्यातव्य हैं। यह सर्वविदित तथ्य है

१. "हाथ में कुंडी, बगल में सोटा, तीनों लोक जगीरी में"- श्री कबीरदास।

कि संज्ञापदों की निर्मित में क्रियापदों की ही मुख्य भूमिका होती हैं। अतः यह साधिकार कहा जा सकता है कि उपर्युक्त यूरोपीय भाषाओं के डिनर-सूचक शब्दों का भारतवर्ष की भाषाओं से निकट का सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध अन्यायाश्रित है। संज्ञापद यदि यूरोपीय भाषाओं में हैं तो क्रिया पद भारतीय भाषाओं के।

२- भारतीय भाषाओं की शब्द-सम्पदा का अध्ययन उसके समग्र रूप में होना चाहिए, खण्ड-खण्ड रूप में नहीं। पूर्ववर्ती पृष्ठों में हमने देखा है कि अंग्रेजी के डिनर के सम्बन्ध में हिन्दी 'दाना' और संस्कृत धान्य' जैसा संज्ञापदों की सूचना तो देती है, किन्तु उससे सम्बन्धित क्रियापद दक्षिणापथ की भाषाओं के हैं, जैसे-तेलुगु का तिनुट, कन्नड़ का तिन्नुवुदु, मलयालम् और का तिन्नुक। इसी डिनर से सम्बद्ध किये जा सकते हैं। अरूणाचली भाषाओं के मांससूचक शब्द 'आदिन' आदि। यदि अरूणाचली भाषाओं को चीनी-तिब्बती समुदाय से ही सम्बन्धित माना जायेगा, तो ऐसी अवस्था में न तो 'डिनर' की अर्थभूमि का सम्यक उद्घाटन हो सकेगा, और न अन्नाहार के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित हिन्दी के दाना और संस्कृत के धान्य की भी कोई सम्यक व्याख्या की जा सकेगी।

३- भारतीय भाषाओं के अध्ययन-वृत्त में चीन और तिब्बती तथा बर्मी भाषाओं को भी समुचित स्थान देना अपेक्षित है। पूर्ववर्ती पृष्ठों में चीनी भाषा के छ्रे हुअन् त का (=आमिष भोजी) उल्लेख आ चुका है। इसमें 'छ्रे' क्रियापद है हिन्दी के 'खाना का पर्यायी है। चीनी का यह 'हुअन्' असम की तीवा जनजाति की तीवा भाषा में 'हान' के रूप में आसीन है। यह 'हान' भी अरूणाचल प्रदेश की सिङ्फो भाषा के 'सान' का एक विकास है। इस 'सान' (=मांस) के सन्दर्भ में प्राकृत का सोणिय (=कसाई यानी मांसविक्रेता) द्रष्टव्य है। चीनी के 'हुअन' या तीवा के 'हान' का स्थानान्तरण हिन्दी के अन्नाहार की शृंखला में हो चुका है, जो दलहन/तिलहन में प्रयुक्त है। हिन्दी में दलहन में प्रयुक्त 'हन' के लिए न केवल संस्कृत के सिनम् (=अनाज) का संज्ञान आवश्यक है न केवल नागाप्रदेश की समी/सेमा भाषा के आसेना asuna (=धान विशेष) का संज्ञान आवश्यक है, बल्कि इसकी निर्मिति में चीनी के 'हुअन' की भी एक भूमिका है। सिङ्फो को सान् (=मांस) और चीनी के छ्रे हुअन त (=मांसाहारी) से सूचना मिल रही है कि मनुष्य अभी आखेट युग का प्राणी है किन्तु संस्कृत के सिनम् (=अनाज) और हिन्दी के दलहन तथा नागाप्रदेश की सेमा/सेमी भाषा के आसेना asuna जैसे शब्द उस कालखण्ड के स्मारक हैं, जब मनुष्य कृषि-कला का ज्ञाता हो चुका था, और अब खाद्य-संग्रहण की सीमा को पारकर वह खाद्य उत्पादक बन गया था। बर्मी भाषा के असेर् (=मांस) और संस्कृत के आहार (=भोजन) में घनिष्ट सम्बन्ध है। यह कहा जा सकता है कि 'असेर' के

प्रयोक्ता बर्मी भाषीजनों तथा आहार के प्रयोक्ता भारतीयजनों का सम्पर्क उसी समय स्थापित हो चुका था, जब मनुष्य अहेरी था, आखेटक था। अंग्रेजी के डिनर के विवेचन के समय तिब्बती के तोन ओ (=भोज, दावत) का विस्मरण न होना चाहिए, अन्यथा अरूणाचली भाषाओं में प्रयुक्त आदिन (=मांस) और हिन्दी के दाना तथा संस्कृत के धान्य (अनाज) के अर्थप्रसार की एक महत्वपूर्ण रेखा अदृष्टि ही रह जायेगी।

तिब्बती भाषा मांस के लिए 'श' का प्रयोग करती है। 'श' लिखित रूप है, इसका उच्चारित रूप 'शा' है। अरूणाचल प्रदेश की मोन्या भाषा की तीन प्रमुख बोलियाँ हैं। तावाङ्, ब्रोके और दिरङ्। इन तीनों बोलियों में भी मांससूचक शब्द 'श' है। उसी प्रदेश की मेम्पा भाषा तथा मणिपुर प्रदेश की मइते (=मणिपुरी) भाषा में भी तिब्बती का 'शा' अपने मूल रूप में सुरक्षित हैं। नागा प्रदेश की पाँच भाषाएँ तिब्बती के 'शा' को किंचित परिवर्तितन रूप में ग्रहण करती हैं। उक्त प्रदेश की आओ यिमचुङर और सेमा इन तीन भाषाओं ने 'शा' के आकार को इकार में परिवर्तित कर दिया है, उदाहरणार्थ आओ का शि, यिमचङर का शिअ् shih तथा समी/सेमा का आशि। आओ (लोङ्सा गाँव की आओ) में ही 'शो' मांससूचक शब्द है जो उसी प्रदेश की साङतम् भाषा के शुअ् shuh का निकटस्थ है, नागाप्रदेश की केवल पोचुरी ही ऐसी भाषा है जिसमें तिब्बती का मूल रूप उपलब्ध है, किन्तु इसने भी पूर्व में एक अतिरिक्त 'अ' जोड़ दिया है। यानी पोचुरी मांस के लिए 'अशा' का प्रयोग करती है। यिमचुङर की मोकोरी बोली न केवल तिब्बती के 'शा' के आकार को ओकार के रूप में प्रयुक्त करती है, बल्कि यह अन्त में 'क्' का संयोजन भी कर लेती है। अब मोकोरी बोली का मांससूचक शब्द 'श्मेक्' संस्कृत के शुक्त (=मांस का सहचर ज्ञात होता है। सिक्किम प्रदेश की लेप्चा भाषा का आच्योक (=मांस) तिब्बती के शा का नहीं, बल्कि मोकोरी के शोक और संस्कृत के शुक्त (=मांस) का सीधा विकास है। ऐसा प्रतीत होता है कि नागाप्रदेश की साङतम भाषा का शुअ् shuh और उसी प्रदेश की आओ (=लोङ्सा गाँव की आओ) का 'शो' (=मांस) भी मोकोरी के शोक और संस्कृत के शुक्त (=मांस) के ही विकसित रूप हैं। लेप्चा के आच्योक (=मांस) के सन्दर्भ में नागाप्रदेश का ज़ोलियाङ् भाषा की लियाङ्माइ बोली का चखा (=मछली), बिहार प्रदेश की खड़िया भाषा का चाखना (=तरकारी), संस्कृत का झस (=मझली), मराठी (=वैदर्भी बोली) का अम्बड चुक्का (=एक प्रकार का खट्टा शाक) जैसे शब्द भी स्मरणीय हैं।

अरूणाचल प्रदेश की देउरी भाषा का छुचु (=मांस) भी संस्कृत के शुक्त (मांस) और यिमचुङर (मोकोरी बोली) के शोक (=मांस) से ही सम्बन्धित है। यदि

हम संस्कृत के श्रृणु (=सुनों) बाडाला के शुन (=सुनना) और हिन्दी के छुन्[१] (=सुनना) के माध्यम से 'श' या 'स' और 'छ' के ध्वनिपरिवर्तन को ध्यान में रखें, तो शोक (=मांस) और छुचु (=मांस) का सम्बन्ध भी ज्ञात हो जायेगा। नागाप्रदेश की आओ भाषा का शि (=मांस) भी अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के छि (मछली) के रूप में विद्यमान हैं । सारांश यह है कि 'श' के 'शि' या 'शो' जैसे रूपान्तरण सार्थक हैं और इनसे भाषाओं में विद्यमान सम्बन्धों की पुष्टि होती है।

मणिपुर प्रदेश की आठ, नाग प्रदेश की चार और अरूणाचल प्रदेश की तीन भाषाओं ने तिब्बती के 'शा' की तालव्य ध्वनि 'श्' के स्थान पर दन्त्य 'स्' ध्वनियुक्त शब्दों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त मिजोरम की मिजोउ और सिक्किम प्रदेश की लिम्बु भाषा में तिब्बती का 'शा' प्रयुक्त है 'सा' रूप में। जिस प्रकार से 'शा' को कुछ भाषाएँ 'शि' और 'शो' रूप में प्रयुक्त करती हैं। जिस प्रकार से यिमुचुङर की मोकोरी बोली 'शा' को ओकार के रूप में स्वीकार कर उसमें 'क्' ध्वनि संयुक्त करती है, ऐसे रूपान्तरण 'सा' के भी विद्यमान है, जैसे मणिपुर प्रदेश की माओं भाषा का ओसोक (=मांस) तथा नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा ताङन्यु गाँव की कोन्याक का असाक (=मांस flesh) मणिपुर की जो भाषाएँ मांस के अर्थ में 'सा' का प्रयोग करती हैं अनाल/अनान, वाइफे, गाङ्ते, पाइते, सिम्ते, ताङ्खुल और ह्मार। मणिपुर की माओं भाषा के ओसोड़ (=मांस) का उल्लेख ऊपर आ चुका है। नागाा प्रदेश की जो चार भाषाएँ 'सा' के मेल में मांस-सूचक शब्दों को व्यवहृत करती हैं। उनके उदाहरण हैं आओ (मूङसेन बोली) का असा, रेङ्मा ओसो उत्तरी रेङ्मा का असा, लोथा का ओसो तथा कोन्याक (=ताङन्यु गाँव की कोन्याक) का असाक्। इस सूची में अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के से su (=मांस), उसी प्रदेश की तुत्सा भाषा के 'सी' तथा उसी प्रदेश की शेरदुक्पेन भाषा के सु (=मांस) को भी संलग्न करना समीचीन होगा। कोन्याक (ताङन्यु गांव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से संकेत प्राप्त हो रहा है कि तिब्बती का शा (=मांस) मूलतः 'क्' ध्वनियुक्त था यानी शाक जैसा 'शा' (=मांस) के सम्बद्ध खानासूचक क्रिया 'शाक्' से भी युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा (ताङन्यु गाँव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से हम हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) सिकार[२] (=खाद्य के रूप में मांस की संज्ञा), हिन्दी के साग (=सब्जी) कारबि आङ्लोङ् की कारबि भाषा के साकार (=तरकारी), बाहासा इन्दोनेसिया के सायुर (=तरकारी), जापानी भाषा के साकाना (=मछली) को सम्बद्ध करना चाहेंगे।

---

१. "मैं छुनती हूँ तू लाजा है"- देखें श्यामनारायण पांडेय कृत 'हल्दीघाटी'।

२. आज ओकरे घरे सिकार बनत हव् (=आज उसके घर में मांस बन रहा है)।

भाषाओं में 'स्' के 'ह्' में ध्वनिपरिवर्तन के उदाहरण प्रायः प्राप्त होते हैं। संस्कृत के सप्ताह को फारसी हप्तः रूप में प्रयुक्त करती है, स्वयं संस्कृत भाषा तिब्बती के ह्ब्रस (=चावल), बाहसा इन्दोनेसिया के बेरास (=धान) को ब्रीहि (=धान) के रूप में व्यवहृत करती है। नागापदेश की आओ भाषा की चांकी बोली का सारा (=फल) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली में 'हर' (=जैसे कटहर यानी कटहल) के रूप में प्रयुक्त होता दिखाई देता है। अतः यह स्वाभाविक है यदि भोजपुरी के सिकार (=खाद्य रूप में प्रयुक्त मांस) जापानी के साकाना (=मछली) के ऐसे ही प्रतिरूप प्राप्न हों, जिनमें 'ह्' ध्वनि प्रयुक्त हो। नागाप्रदेश की कोन्याक भाषा का अहाक् (=मांस), उसी प्रदेश की फोम भाषा का फाइहाक (=मांस flesh) उसी प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेमें/ज़ेमी बोली का हेका (=मछली) ऐसे ही उदाहरण हैं। 'स्' के 'ह्' में ध्वनि परिवर्तन के आलोक में हिन्दी के साग-सब्जी के साग का सम्बन्ध नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेम/ज़ेमी बोली के हेगिनिया (=तरकारी, सब्जी) और कश्मीरी के हाखवारू (=साग उगाने का छोटा खेत) और नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के होई (=तरकारी, सब्जी) से स्थापित किया जा सकता है। भोजपुरी के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की संज्ञा) और जापानी के साकाना (=मछली), का प्रसार नागाप्रदेश की ज़ेमे बोली के हेका (=मछली) से होता हुआ बिहार प्रदेश की हो भाषा के हकु, हइ (=मछली), उसी प्रदेश की सन्ताल भाषा के हाको (=मछली), बाहासा इन्दोनेसिया के ईकान (=मछली) फिजी भाषा के इक (=मछली) तक पहुँचता है। नागाप्रदेश की सेमा/समी भाषा के आखा (=मछली) में उसी प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक (=मांस flesh) की 'ह्' की उष्मता क्षीण हो गयी है। और वह केवल 'आ' के रूप में उपस्थिति है। त्रिपुरा प्रदेश की ककबरक भाषा का 'आ' (=मछली) इसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

अब देखना चाहिए कि तिब्बती के शा (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङर भाषा की मोकोरी में बोली के शोक (=मांस) संस्कृत के सुक्त (=मांस), सिक्किम की लेप्चा भाषा के आच्योक (=मांस) नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ भाषा के लियाङ्माइ बोली के चंखा (=मछली) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की- नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक् (=मांस flesh) से सम्बद्ध भोजन-सूचक शब्दों अथवा खाना-सूचक क्रियाओं की क्या स्थिति है। क्या ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनकी शब्द सम्पदा से यह विदित होता है कि 'शा' (=मांस) श्मेक (=मांस), आच्योक (=मांस) चखा (=मछली) अहाक् (=मांस) कभी प्रमुख खाद्य पदार्थ रहे होंगे।

संस्कृत के शुक्त (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङ्र भाषा की मोकोरी

हम संस्कृत के श्रृणु (=सुनों) बाडाला के शुन (=सुनना) और हिन्दी के छुन्[1] (=सुनना) के माध्यम से 'श' या 'स' और 'छ' के ध्वनिपरिवर्तन को ध्यान में रखें, तो शोक (=मांस) और छुचु (=मांस) का सम्बन्ध भी ज्ञात हो जायेगा। नागाप्रदेश की आओ भाषा का शि (=मांस) भी अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के छि (मछली) के रूप में विद्यमान हैं । सारांश यह है कि 'श' के 'शि' या 'शो' जैसे रूपान्तरण सार्थक हैं और इनसे भाषाओं में विद्यमान सम्बन्धों की पुष्टि होती है।

मणिपुर प्रदेश की आठ, नाग प्रदेश की चार और अरूणाचल प्रदेश की तीन भाषाओं ने तिब्बती के 'शा' की तालव्य ध्वनि 'श्' के स्थान पर दन्त्य 'स्' ध्वनियुक्त शब्दों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त मिजोरम की मिजोउ और सिक्किम प्रदेश की लिम्बु भाषा में तिब्बती का 'शा' प्रयुक्त है 'सा' रूप में। जिस प्रकार से 'शा' को कुछ भाषाएँ 'शि' और 'शो' रूप में प्रयुक्त करती हैं। जिस प्रकार से यिमुचुङर की मोकोरी बोली 'शा' को ओकार के रूप में स्वीकार कर उसमें 'क्' ध्वनि संयुक्त करती हैं, ऐसे रूपान्तरण 'सा' के भी विद्यमान है, जैसे मणिपुर प्रदेश की माओं भाषा का ओसोक (=मांस) तथा नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा ताङन्यु गाँव की कोन्याक का असाक (=मांस flesh) मणिपुर की जो भाषाएँ मांस के अर्थ में 'सा' का प्रयोग करती हैं अनाल/अनान, वाइफे, गाङ्ते, पाइते, सिम्ते, ताङ्खुल और ह्मार। मणिपुर की माओं भाषा के ओसोड़ (=मांस) का उल्लेख ऊपर आ चुका है। नागाा प्रदेश की जो चार भाषाएँ 'सा' के मेल में मांस-सूचक शब्दों को व्यवहृत करती हैं। उनके उदाहरण हैं आओ (मूङसेन बोली) का असा, रेङ्मा ओसो उत्तरी रेङ्मा का असा, लोथा का ओसो तथा कोन्याक (=ताङन्यु गाँव की कोन्याक) का असाक्। इस सूची में अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के से su (=मांस), उसी प्रदेश की तुत्सा भाषा के 'सी' तथा उसी प्रदेश की शेरदुक्पेन भाषा के सु (=मांस) को भी संलग्न करना समीचीन होगा। कोन्याक (ताङन्यु गांव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से संकेत प्राप्त हो रहा है कि तिब्बती का शा (=मांस) मूलतः 'क्' ध्वनियुक्त था यानी शाक जैसा 'शा' (=मांस) के सम्बद्ध खानासूचक क्रिया 'शाक्' से भी युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा (ताङन्यु गाँव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से हम हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) सिकार[2] (=खाद्य के रूप में मांस की संज्ञा), हिन्दी के साग (=सब्जी) कारबि आङ्लोङ् की कारबि भाषा के साकार (=तरकारी), बाहासा इन्दोनेसिया के सायुर (=तरकारी), जापानी भाषा के साकाना (=मछली) को सम्बद्ध करना चाहेंगे।

---

१. "मैं छुनती हूँ तू लाजा है"- देखें श्यामनारायण पांडेय कृत 'हल्दीघाटी'।

२. आज ओकरे घरे सिकार बनत हव् (=आज उसके घर में मांस बन रहा है)।

भाषाओं में 'स्' के 'ह्' में ध्वनिपरिवर्तन के उदाहरण प्रायः प्राप्त होते हैं। संस्कृत के सप्ताह को फारसी हफ्तः रूप में प्रयुक्त करती है, स्वयं संस्कृत भाषा तिब्बती के ह्ब्रस (=चावल), बाहसा इन्दोनेसिया के बेरास (=धान) को ब्रीहि (=धान) के रूप में व्यवहृत करती है। नागापदेश की आओ भाषा की चांकी बोली का सारा (=फल) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली में 'हर' (=जैसे कटहर यानी कटहल) के रूप में प्रयुक्त होता दिखाई देता है। अतः यह स्वाभाविक है यदि भोजपुरी के सिकार (=खाद्य रूप में प्रयुक्त मांस) जापानी के साकाना (=मछली) के ऐसे ही प्रतिरूप प्राप्न हों, जिनमें 'ह्' ध्वनि प्रयुक्त हो। नागाप्रदेश की कोन्याक भाषा का अहाक् (=मांस), उसी प्रदेश की फोम भाषा का फाइहाक (=मांस flesh) उसी प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेमें/ज़ेमी बोली का हेका (=मछली) ऐसे ही उदाहरण हैं। 'स्' के 'ह्' में ध्वनि परिवर्तन के आलोक में हिन्दी के साग-सब्जी के साग का सम्बन्ध नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेम/ज़ेमी बोली के हेगिनिया (=तरकारी, सब्जी) और कश्मीरी के हाखवारू (=साग उगाने का छोटा खेत) और नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के होई (=तरकारी, सब्जी) से स्थापित किया जा सकता है। भोजपुरी के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की संज्ञा) और जापानी के साकाना (=मछली), का प्रसार नागाप्रदेश की ज़ेमे बोली के हेका (=मछली) से होता हुआ बिहार प्रदेश की हो भाषा के हकु, हइ (=मछली), उसी प्रदेश की सन्ताल भाषा के हाको (=मछली), बाहासा इन्दोनेसिया के ईकान (=मछली) फिजी भाषा के इक (=मछली) तक पहुँचता है। नागाप्रदेश की सेमा/समी भाषा के आखा (=मछली) में उसी प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक (=मांस flesh) की 'ह्' की उष्मता क्षीण हो गयी है। और वह केवल 'आ' के रूप में उपस्थिति है। त्रिपुरा प्रदेश की ककबरक भाषा का 'आ' (=मछली) इसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

अब देखना चाहिए कि तिब्बती के शा (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङर भाषा की मोकोरी में बोली के शोक (=मांस) संस्कृत के सुक्त (=मांस), सिक्किम की लेप्चा भाषा के आच्योक (=मांस) नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ भाषा के लियाङ्माइ बोली के चंखा (=मछली) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की- नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक् (=मांस flesh) से सम्बद्ध भोजन-सूचक शब्दों अथवा खाना-सूचक क्रियाओं की क्या स्थिति है। क्या ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनकी शब्द सम्पदा से यह विदित होता है कि 'शा' (=मांस) श्मेक (=मांस), आच्योक (=मांस) चखा (=मछली) अहाक् (=मांस) कभी प्रमुख खाद्य पदार्थ रहे होंगे।

संस्कृत के शुक्त (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङ्र भाषा की मोकोरी

हम संस्कृत के शृणु (=सुनों) बाङाला के शुन (=सुनना) और हिन्दी के छुन्[१] (=सुनना) के माध्यम से 'श' या 'स' और 'छ' के ध्वनिपरिवर्तन को ध्यान में रखें, तो शोक (=मांस) और छुचु (=मांस) का सम्बन्ध भी ज्ञात हो जायेगा। नागाप्रदेश की आओ भाषा का शि (=मांस) भी अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के छि (मछली) के रूप में विद्यमान हैं । सारांश यह है कि 'श' के 'शि' या 'शो' जैसे रूपान्तरण सार्थक हैं और इनसे भाषाओं में विद्यमान सम्बन्धों की पुष्टि होती है।

मणिपुर प्रदेश की आठ, नाग प्रदेश की चार और अरूणाचल प्रदेश की तीन भाषाओं ने तिब्बती के 'शा' की तालव्य ध्वनि 'श्' के स्थान पर दन्त्य 'स्' ध्वनियुक्त शब्दों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त मिजोरम की मिजोउ और सिक्किम प्रदेश की लिम्बु भाषा में तिब्बती का 'शा' प्रयुक्त है 'सा' रूप में। जिस प्रकार से 'शा' को कुछ भाषाएँ 'शि' और 'शो' रूप में प्रयुक्त करती हैं। जिस प्रकार से यिमुचुङर की मोकोरी बोली 'शा' को ओकार के रूप में स्वीकार कर उसमें 'क्' ध्वनि संयुक्त करती हैं, ऐसे रूपान्तरण 'सा' के भी विद्यमान है, जैसे मणिपुर प्रदेश की माओं भाषा का ओसोक (=मांस) तथा नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा ताङन्यु गाँव की कोन्याक का असाक (=मांस flesh) मणिपुर की जो भाषाएँ मांस के अर्थ में 'सा' का प्रयोग करती हैं अनाल/अनान, वाइफे, गाङ्ते, पाइते, सिम्ते, ताङ्खुल और ह्मार। मणिपुर की माओं भाषा के ओसोड़ (=मांस) का उल्लेख ऊपर आ चुका है। नागाा प्रदेश की जो चार भाषाएँ 'सा' के मेल में मांस-सूचक शब्दों को व्यवहृत करती हैं। उनके उदाहरण हैं आओ (मूङसेन बोली) का असा, रेङ्मा ओसो उत्तरी रेङ्मा का असा, लोथा का ओसो तथा कोन्याक (=ताङन्यु गाँव की कोन्याक) का असाक्। इस सूची में अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के से su (=मांस), उसी प्रदेश की तुत्सा भाषा के 'सी' तथा उसी प्रदेश की शेरदुक्पेन भाषा के सु (=मांस) को भी संलग्न करना समीचीन होगा। कोन्याक (ताङन्यु गांव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से संकेत प्राप्त हो रहा है कि तिब्बती का शा (=मांस) मूलतः 'क्' ध्वनियुक्त था यानी शाक जैसा 'शा' (=मांस) के सम्बद्ध खानासूचक क्रिया 'शाक्' से भी युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा (ताङन्यु गाँव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से हम हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) सिकार[२] (=खाद्य के रूप में मांस की संज्ञा), हिन्दी के साग (=सब्जी) कारबि आङ्लोङ् की कारबि भाषा के साकार (=तरकारी), बाहासा इन्दोनेसिया के सायुर (=तरकारी), जापानी भाषा के साकाना (=मछली) को सम्बद्ध करना चाहेंगे।

१. "मैं छुनती हूँ तू लाजा है"- देखें श्यामनारायण पांडेय कृत 'हल्दीघाटी'।

२. आज ओकरे घरे सिकार बनत हव् (=आज उसके घर में मांस बन रहा है)।

भाषाओं में 'स्' के 'ह्' में ध्वनिपरिवर्तन के उदाहरण प्रायः प्राप्त होते हैं। संस्कृत के सप्ताह को फारसी हप्तः रूप में प्रयुक्त करती है, स्वयं संस्कृत भाषा तिब्बती के ह्ब्रस (=चावल), बाहसा इन्दोनेसिया के बेरास (=धान) को ब्रीहि (=धान) के रूप में व्यवहृत करती है। नागापदेश की आओ भाषा की चांकी बोली का सारा (=फल) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली में 'हर' (=जैसे कटहर यानी कटहल) के रूप में प्रयुक्त होता दिखाई देता है। अतः यह स्वाभाविक है यदि भोजपुरी के सिकार (=खाद्य रूप में प्रयुक्त मांस) जापानी के साकाना (=मछली) के ऐसे ही प्रतिरूप प्राप्न हों, जिनमें 'ह्' ध्वनि प्रयुक्त हो। नागाप्रदेश की कोन्याक भाषा का अहाक् (=मांस), उसी प्रदेश की फोम भाषा का फाइहाक (=मांस flesh) उसी प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेमें/ज़ेमी बोली का हेका (=मछली) ऐसे ही उदाहरण हैं। 'स्' के 'ह्' में ध्वनि परिवर्तन के आलोक में हिन्दी के साग-सब्जी के साग का सम्बन्ध नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेम/ज़ेमी बोली के हेगिनिया (=तरकारी, सब्जी) और कश्मीरी के हाखवारू (=साग उगाने का छोटा खेत) और नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के होई (=तरकारी, सब्जी) से स्थापित किया जा सकता है। भोजपुरी के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की संज्ञा) और जापानी के साकाना (=मछली), का प्रसार नागाप्रदेश की ज़ेमे बोली के हेका (=मछली) से होता हुआ बिहार प्रदेश की हो भाषा के हकु, हइ (=मछली), उसी प्रदेश की सन्ताल भाषा के हाको (=मछली), बाहासा इन्दोनेसिया के ईकान (=मछली) फिजी भाषा के इक (=मछली) तक पहुँचता है। नागाप्रदेश की सेमा/समी भाषा के आखा (=मछली) में उसी प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक (=मांस flesh) की 'ह्' की उष्मता क्षीण हो गयी है। और वह केवल 'आ' के रूप में उपस्थिति है। त्रिपुरा प्रदेश की ककबरक भाषा का 'आ' (=मछली) इसी शृंखला की एक कड़ी है।

अब देखना चाहिए कि तिब्बती के शा (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङ्र भाषा की मोकोरी में बोली के शोक (=मांस) संस्कृत के सुक्त (=मांस), सिक्किम की लेप्चा भाषा के आच्योक (=मांस) नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ भाषा के लियाङ्माइ बोली के चखा (=मछली) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की- नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक् (=मांस flesh) से सम्बद्ध भोजन-सूचक शब्दों अथवा खाना-सूचक क्रियाओं की क्या स्थिति है। क्या ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनकी शब्द सम्पदा से यह विदित होता है कि 'शा' (=मांस) श्मेक (=मांस), आच्योक (=मांस) चखा (=मछली) अहाक् (=मांस) कभी प्रमुख खाद्य पदार्थ रहे होंगे।

संस्कृत के शुक्त (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङ्र भाषा की मोकोरी

हम संस्कृत के श्रृणु (=सुनों) बाडाला के शुन (=सुनना) और हिन्दी के छुन्[1] (=सुनना) के माध्यम से 'श' या 'स' और 'छ' के ध्वनिपरिवर्तन को ध्यान में रखें, तो शोक (=मांस) और छुचु (=मांस) का सम्बन्ध भी ज्ञात हो जायेगा। नागाप्रदेश की आओ भाषा का शि (=मांस) भी अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के छि (मछली) के रूप में विद्यमान हैं । सारांश यह है कि 'श' के 'शि' या 'शो' जैसे रूपान्तरण सार्थक हैं और इनसे भाषाओं में विद्यमान सम्बन्धों की पुष्टि होती है।

मणिपुर प्रदेश की आठ, नाग प्रदेश की चार और अरूणाचल प्रदेश की तीन भाषाओं ने तिब्बती के 'शा' की तालव्य ध्वनि 'श्' के स्थान पर दन्त्य 'स्' ध्वनियुक्त शब्दों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त मिजोरम की मिजोउ और सिक्किम प्रदेश की लिम्बु भाषा में तिब्बती का 'शा' प्रयुक्त है 'सा' रूप में। जिस प्रकार से 'शा' को कुछ भाषाएँ 'शि' और 'शो' रूप में प्रयुक्त करती हैं। जिस प्रकार से यिमुचुङर की मोकोरी बोली 'शा' को ओकार के रूप में स्वीकार कर उसमें 'क्' ध्वनि संयुक्त करती हैं, ऐसे रूपान्तरण 'सा' के भी विद्यमान है, जैसे मणिपुर प्रदेश की माओं भाषा का ओसोक (=मांस) तथा नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा ताङन्यु गाँव की कोन्याक का असाक (=मांस flesh) मणिपुर की जो भाषाएँ मांस के अर्थ में 'सा' का प्रयोग करती हैं अनाल/अनान, वाइफे, गाङ्ते, पाइते, सिम्ते, ताङ्खुल और ह्मार। मणिपुर की माओं भाषा के ओसोड़ (=मांस) का उल्लेख ऊपर आ चुका है। नागाा प्रदेश की जो चार भाषाएँ 'सा' के मेल में मांस-सूचक शब्दों को व्यवहृत करती हैं। उनके उदाहरण हैं आओ (मूङसेन बोली) का असा, रेङ्मा ओसो उत्तरी रेङ्मा का असा, लोथा का ओसो तथा कोन्याक (=ताङन्यु गाँव की कोन्याक) का असाक्। इस सूची में अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के से su (=मांस), उसी प्रदेश की तुत्सा भाषा के 'सी' तथा उसी प्रदेश की शेरदुक्पेन भाषा के सु (=मांस) को भी संलग्न करना समीचीन होगा। कोन्याक (ताङन्यु गांव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से संकेत प्राप्त हो रहा है कि तिब्बती का शा (=मांस) मूलतः 'क्' ध्वनियुक्त था यानी शाक जैसा 'शा' (=मांस) के सम्बद्ध खानासूचक क्रिया 'शाक्' से भी युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा (ताङन्यु गाँव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से हम हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) सिकार[2] (=खाद्य के रूप में मांस की संज्ञा), हिन्दी के साग (=सब्जी) कारबि आङ्लोङ् की कारबि भाषा के साकार (=तरकारी), बाहासा इन्दोनेसिया के सायुर (=तरकारी), जापानी भाषा के साकाना (=मछली) को सम्बद्ध करना चाहेंगे।

---

१. "मैं छुनती हूँ तू लाजा है"- देखें श्यामनारायण पांडेय कृत 'हल्दीघाटी'।

२. आज ओकरे घरे सिकार बनत हव् (=आज उसके घर में मांस बन रहा है)।

भाषाओं में 'स्' के 'ह्' में ध्वनिपरिवर्तन के उदाहरण प्रायः प्राप्त होते हैं। संस्कृत के सप्ताह को फारसी हप्तः रूप में प्रयुक्त करती है, स्वयं संस्कृत भाषा तिब्बती के ह्ब्रस (=चावल), बाहसा इन्दोनेसिया के बेरास (=धान) को ब्रीहि (=धान) के रूप में व्यवहृत करती है। नागापदेश की आओ भाषा की चांकी बोली का सारा (=फल) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली में 'हर' (=जैसे कटहर यानी कटहल) के रूप में प्रयुक्त होता दिखाई देता है। अतः यह स्वाभाविक है यदि भोजपुरी के सिकार (=खाद्य रूप में प्रयुक्त मांस) जापानी के साकाना (=मछली) के ऐसे ही प्रतिरूप प्राप्न हों, जिनमें 'ह्' ध्वनि प्रयुक्त हो। नागाप्रदेश की कोन्याक भाषा का अहाक् (=मांस), उसी प्रदेश की फोम भाषा का फाइहाक (=मांस flesh) उसी प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेमें/ज़ेमी बोली का हेका (=मछली) ऐसे ही उदाहरण हैं। 'स्' के 'ह्' में ध्वनि परिवर्तन के आलोक में हिन्दी के साग-सब्जी के साग का सम्बन्ध नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेम/ज़ेमी बोली के हेगिनिया (=तरकारी, सब्जी) और कश्मीरी के हाखवारू (=साग उगाने का छोटा खेत) और नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के होई (=तरकारी, सब्जी) से स्थापित किया जा सकता है। भोजपुरी के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की संज्ञा) और जापानी के साकाना (=मछली), का प्रसार नागाप्रदेश की ज़ेमे बोली के हेका (=मछली) से होता हुआ बिहार प्रदेश की हो भाषा के हकु, हइ (=मछली), उसी प्रदेश की सन्ताल भाषा के हाको (=मछली), बाहासा इन्दोनेसिया के ईकान (=मछली) फिजी भाषा के इक (=मछली) तक पहुँचता है। नागाप्रदेश की सेमा/समी भाषा के आखा (=मछली) में उसी प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक (=मांस flesh) की 'ह्' की उष्मता क्षीण हो गयी है। और वह केवल 'आ' के रूप में उपस्थिति है। त्रिपुरा प्रदेश की ककबरक भाषा का 'आ' (=मछली) इसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

अब देखना चाहिए कि तिब्बती के शा (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङर भाषा की मोकोरी में बोली के शोक (=मांस) संस्कृत के सुक्त (=मांस), सिक्किम की लेप्चा भाषा के आच्योक (=मांस) नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ भाषा के लियाङ्माइ बोली के चंखा (=मछली) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की- नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक् (=मांस flesh) से सम्बद्ध भोजन-सूचक शब्दों अथवा खाना-सूचक क्रियाओं की क्या स्थिति है। क्या ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनकी शब्द सम्पदा से यह विदित होता है कि 'शा' (=मांस) श्मेक (=मांस), आच्योक (=मांस) चखा (=मछली) अहाक् (=मांस) कभी प्रमुख खाद्य पदार्थ रहे होंगे।

संस्कृत के शुक्त (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङ्र भाषा की मोकोरी

हम संस्कृत के श्रृणु (=सुनों) बाडाला के शुन (=सुनना) और हिन्दी के छुन्[1] (=सुनना) के माध्यम से 'श' या 'स' और 'छ' के ध्वनिपरिवर्तन को ध्यान में रखें, तो शोक (=मांस) और छुचु (=मांस) का सम्बन्ध भी ज्ञात हो जायेगा। नागाप्रदेश की आओ भाषा का शि (=मांस) भी अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के छि (मछली) के रूप में विद्यमान हैं । सारांश यह है कि 'श' के 'शि' या 'शो' जैसे रूपान्तरण सार्थक हैं और इनसे भाषाओं में विद्यमान सम्बन्धों की पुष्टि होती है।

मणिपुर प्रदेश की आठ, नाग प्रदेश की चार और अरूणाचल प्रदेश की तीन भाषाओं ने तिब्बती के 'शा' की तालव्य ध्वनि 'श्' के स्थान पर दन्त्य 'स्' ध्वनियुक्त शब्दों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त मिजोरम की मिजोउ और सिक्किम प्रदेश की लिम्बु भाषा में तिब्बती का 'शा' प्रयुक्त है 'सा' रूप में। जिस प्रकार से 'शा' को कुछ भाषाएँ 'शि' और 'शो' रूप में प्रयुक्त करती हैं। जिस प्रकार से यिमुचुङर की मोकोरी बोली 'शा' को ओकार के रूप में स्वीकार कर उसमें 'क्' ध्वनि संयुक्त करती हैं, ऐसे रूपान्तरण 'सा' के भी विद्यमान है, जैसे मणिपुर प्रदेश की माओं भाषा का ओसोक (=मांस) तथा नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा ताङन्यु गाँव की कोन्याक का असाक (=मांस flesh) मणिपुर की जो भाषाएँ मांस के अर्थ में 'सा' का प्रयोग करती हैं अनाल/अनान, वाइफे, गाङ्ते, पाइते, सिम्ते, ताङ्खुल और ह्मार। मणिपुर की माओं भाषा के ओसोड़ (=मांस) का उल्लेख ऊपर आ चुका है। नागाा प्रदेश की जो चार भाषाएँ 'सा' के मेल में मांस-सूचक शब्दों को व्यवहृत करती हैं। उनके उदाहरण हैं आओ (मूङ्सेन बोली) का असा, रेङ्मा ओसो उत्तरी रेङ्मा का असा, लोथा का ओसो तथा कोन्याक (=ताङ्न्यु गाँव की कोन्याक) का असाक्। इस सूची में अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के से su (=मांस), उसी प्रदेश की तुत्सा भाषा के 'सी' तथा उसी प्रदेश की शेरदुक्पेन भाषा के सु (=मांस) को भी संलग्न करना समीचीन होगा। कोन्याक (ताङन्यु गांव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से संकेत प्राप्त हो रहा है कि तिब्बती का शा (=मांस) मूलतः 'क्' ध्वनियुक्त था यानी शाक जैसा 'शा' (=मांस) के सम्बद्ध खानासूचक क्रिया 'शाक्' से भी युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा (ताङ्न्यु गाँव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से हम हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) सिकार[2] (=खाद्य के रूप में मांस की संज्ञा), हिन्दी के साग (=सब्जी) कारबि आङ्लोङ् की कारबि भाषा के साकार (=तरकारी), बाहासा इन्दोनेसिया के सायुर (=तरकारी), जापानी भाषा के साकाना (=मछली) को सम्बद्ध करना चाहेंगे।

---

१. "मैं छुनती हूँ तू लाजा है"- देखें श्यामनारायण पांडेय कृत 'हल्दीघाटी'।

२. आज ओकरे घरे सिकार बनत हव् (=आज उसके घर में मांस बन रहा है)।

भाषाओं में 'स्' के 'ह्' में ध्वनिपरिवर्तन के उदाहरण प्रायः प्राप्त होते हैं। संस्कृत के सप्ताह को फारसी हप्तः रूप में प्रयुक्त करती है, स्वयं संस्कृत भाषा तिब्बती के ह्ब्रस (=चावल), बाहसा इन्दोनेसिया के बेरास (=धान) को ब्रीहि (=धान) के रूप में व्यवहृत करती है। नागापदेश की आओ भाषा की चांकी बोली का सारा (=फल) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली में 'हर' (=जैसे कटहर यानी कटहल) के रूप में प्रयुक्त होता दिखाई देता है। अतः यह स्वाभाविक है यदि भोजपुरी के सिकार (=खाद्य रूप में प्रयुक्त मांस) जापानी के साकाना (=मछली) के ऐसे ही प्रतिरूप प्राप्न हों, जिनमें 'ह्' ध्वनि प्रयुक्त हो। नागाप्रदेश की कोन्याक भाषा का अहाक् (=मांस), उसी प्रदेश की फोम भाषा का फाइहाक (=मांस flesh) उसी प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेमें/ज़ेमी बोली का हेका (=मछली) ऐसे ही उदाहरण हैं। 'स्' के 'ह्' में ध्वनि परिवर्तन के आलोक में हिन्दी के साग-सब्जी के साग का सम्बन्ध नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेम/ज़ेमी बोली के हेगिनिया (=तरकारी, सब्जी) और कश्मीरी के हाखवारू (=साग उगाने का छोटा खेत) और नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के होई (=तरकारी, सब्जी) से स्थापित किया जा सकता है। भोजपुरी के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की संज्ञा) और जापानी के साकाना (=मछली), का प्रसार नागाप्रदेश की ज़ेमे बोली के हेका (=मछली) से होता हुआ बिहार प्रदेश की हो भाषा के हकु, हइ (=मछली), उसी प्रदेश की सन्ताल भाषा के हाको (=मछली), बाहासा इन्दोनेसिया के ईकान (=मछली) फिजी भाषा के इक (=मछली) तक पहुँचता है। नागाप्रदेश की सेमा/समी भाषा के आखा (=मछली) में उसी प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक (=मांस flesh) की 'ह्' की उष्मता क्षीण हो गयी है। और वह केवल 'आ' के रूप में उपस्थिति है। त्रिपुरा प्रदेश की ककबरक भाषा का 'आ' (=मछली) इसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

अब देखना चाहिए कि तिब्बती के शा (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङर भाषा की मोकोरी में बोली के शोक (=मांस) संस्कृत के सुक्त (=मांस), सिक्किम की लेप्चा भाषा के आच्योक (=मांस) नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ भाषा के लियाङ्माइ बोली के चंखा (=मछली) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की- नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक् (=मांस flesh) से सम्बद्ध भोजन-सूचक शब्दों अथवा खाना-सूचक क्रियाओं की क्या स्थिति है। क्या ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनकी शब्द सम्पदा से यह विदित होता है कि 'शा' (=मांस) श्मेक (=मांस), आच्योक (=मांस) चखा (=मछली) अहाक् (=मांस) कभी प्रमुख खाद्य पदार्थ रहे होंगे।

संस्कृत के शुक्त (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङ्र भाषा की मोकोरी

हम संस्कृत के शृणु (=सुनों) बाडाला के शुन (=सुनना) और हिन्दी के छुन्[1] (=सुनना) के माध्यम से 'श' या 'स' और 'छ' के ध्वनिपरिवर्तन को ध्यान में रखें, तो शोक (=मांस) और छुचु (=मांस) का सम्बन्ध भी ज्ञात हो जायेगा। नागाप्रदेश की आओ भाषा का शि (=मांस) भी अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के छि (मछली) के रूप में विद्यमान हैं । सारांश यह है कि 'श' के 'शि' या 'शो' जैसे रूपान्तरण सार्थक हैं और इनसे भाषाओं में विद्यमान सम्बन्धों की पुष्टि होती है।

मणिपुर प्रदेश की आठ, नाग प्रदेश की चार और अरूणाचल प्रदेश की तीन भाषाओं ने तिब्बती के 'शा' की तालव्य ध्वनि 'श्' के स्थान पर दन्त्य 'स्' ध्वनियुक्त शब्दों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त मिजोरम की मिजोउ और सिक्किम प्रदेश की लिम्बु भाषा में तिब्बती का 'शा' प्रयुक्त है 'सा' रूप में। जिस प्रकार से 'शा' को कुछ भाषाएँ 'शि' और 'शो' रूप में प्रयुक्त करती हैं। जिस प्रकार से यिमुचुङर की मोकोरी बोली 'शा' को ओकार के रूप में स्वीकार कर उसमें 'क्' ध्वनि संयुक्त करती हैं, ऐसे रूपान्तरण 'सा' के भी विद्यमान है, जैसे मणिपुर प्रदेश की माओं भाषा का ओसोक (=मांस) तथा नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा ताङन्यु गाँव की कोन्याक का असाक (=मांस flesh) मणिपुर की जो भाषाएँ मांस के अर्थ में 'सा' का प्रयोग करती हैं अनाल/अनान, वाइफे, गाङ्ते, पाइते, सिम्ते, ताङ्खुल और ह्मार। मणिपुर की माओं भाषा के ओसोड़ (=मांस) का उल्लेख ऊपर आ चुका है। नागाा प्रदेश की जो चार भाषाएँ 'सा' के मेल में मांस-सूचक शब्दों को व्यवहृत करती हैं। उनके उदाहरण हैं आओ (मूङ्सेन बोली) का असा, रेङ्मा ओसो उत्तरी रेङ्मा का असा, लोथा का ओसो तथा कोन्याक (=ताङन्यु गाँव की कोन्याक) का असाक्। इस सूची में अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा के से su (=मांस), उसी प्रदेश की तुत्सा भाषा के 'सी' तथा उसी प्रदेश की शेरदुक्पेन भाषा के सु (=मांस) को भी संलग्न करना समीचीन होगा। कोन्याक (ताङन्यु गांव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से संकेत प्राप्त हो रहा है कि तिब्बती का शा (=मांस) मूलतः 'क्' ध्वनियुक्त था यानी शाक जैसा 'शा' (=मांस) के सम्बद्ध खानासूचक क्रिया 'शाक्' से भी युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा (ताङन्यु गाँव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) से हम हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) सिकार[2] (=खाद्य के रूप में मांस की संज्ञा), हिन्दी के साग (=सब्जी) कारबि आङ्लोङ् की कारबि भाषा के साकार (=तरकारी), बाहासा इन्दोनेसिया के सायुर (=तरकारी), जापानी भाषा के साकाना (=मछली) को सम्बद्ध करना चाहेंगे।

---

१. "मैं छुनती हूँ तू लाजा है"- देखें श्यामनारायण पांडेय कृत 'हल्दीघाटी'।

२. आज ओकरे घरे सिकार बनत हव् (=आज उसके घर में मांस बन रहा है)।

भाषाओं में 'स्' के 'ह्' में ध्वनिपरिवर्तन के उदाहरण प्रायः प्राप्त होते हैं। संस्कृत के सप्ताह को फारसी हप्तः रूप में प्रयुक्त करती है, स्वयं संस्कृत भाषा तिब्बती के ह्ब्रस (=चावल), बाहसा इन्दोनेसिया के बेरास (=धान) को ब्रीहि (=धान) के रूप में व्यवहृत करती है। नागापदेश की आओ भाषा की चांकी बोली का सारा (=फल) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली में 'हर' (=जैसे कटहर यानी कटहल) के रूप में प्रयुक्त होता दिखाई देता है। अतः यह स्वाभाविक है यदि भोजपुरी के सिकार (=खाद्य रूप में प्रयुक्त मांस) जापानी के साकाना (=मछली) के ऐसे ही प्रतिरूप प्राप्न हों, जिनमें 'ह्' ध्वनि प्रयुक्त हो। नागाप्रदेश की कोन्याक भाषा का अहाक् (=मांस), उसी प्रदेश की फोम भाषा का फाइहाक (=मांस flesh) उसी प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेमें/ज़ेमी बोली का हेका (=मछली) ऐसे ही उदाहरण हैं। 'स्' के 'ह्' में ध्वनि परिवर्तन के आलोक में हिन्दी के साग-सब्जी के साग का सम्बन्ध नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेम/ज़ेमी बोली के हेगिनिया (=तरकारी, सब्जी) और कश्मीरी के हाखवारू (=साग उगाने का छोटा खेत) और नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के होई (=तरकारी, सब्जी) से स्थापित किया जा सकता है। भोजपुरी के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की संज्ञा) और जापानी के साकाना (=मछली), का प्रसार नागाप्रदेश की ज़ेमे बोली के हेका (=मछली) से होता हुआ बिहार प्रदेश की हो भाषा के हकु, हइ (=मछली), उसी प्रदेश की सन्ताल भाषा के हाको (=मछली), बाहासा इन्दोनेसिया के ईकान (=मछली) फिजी भाषा के इक (=मछली) तक पहुँचता है। नागाप्रदेश की सेमा/समी भाषा के आखा (=मछली) में उसी प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक (=मांस flesh) की 'ह्' की उष्मता क्षीण हो गयी है। और वह केवल 'आ' के रूप में उपस्थिति है। त्रिपुरा प्रदेश की ककबरक भाषा का 'आ' (=मछली) इसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

अब देखना चाहिए कि तिब्बती के शा (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङर भाषा की मोकोरी में बोली के शोक (=मांस) संस्कृत के सुक्त (=मांस), सिक्किम की लेप्चा भाषा के आच्योक (=मांस) नागा प्रदेश की ज़ेलियाङ भाषा के लियाङ्माइ बोली के चखा (=मछली) हिन्दी की भोजपुरी (=काशिका) बोली के सिकार (=खाद्य के रूप में प्रयुक्त मांस की- नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक् (=मांस flesh) से सम्बद्ध भोजन-सूचक शब्दों अथवा खाना-सूचक क्रियाओं की क्या स्थिति है। क्या ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनकी शब्द सम्पदा से यह विदित होता है कि 'शा' (=मांस) श्मेक (=मांस), आच्योक (=मांस) चखा (=मछली) अहाक् (=मांस) कभी प्रमुख खाद्य पदार्थ रहे होंगे।

संस्कृत के शुक्त (=मांस) नागा प्रदेश की यिमचुङ्र भाषा की मोकोरी

बोली के शोक (=मांस) का आहारतत्व ज्ञात होता है जापानी भाषा के शोक या शोकुजि (=भोजन), चीनी भाषा (=कैन्तन क्षेत्र की चीनी) के शिक (=भोजन) तथा कोरियायी भाषा के शिक (=भोजन) से। संस्कृत के शाक (=पत्तों की तरकारी और तिब्बती के शा (=मांस) पोचुरी के अशा (=मांस) की पृष्ठभूमि में ही मणिपुर प्रदेश की ताङ्खुल भाषा के कशाक-कज़ा (=भोजन) का आशय सुस्पष्ट हो सकता है। जापानी के शोकु या शोकुजि (=भोजन), संस्कृत के शाक और तिब्बती के शा (=मांस) की निर्मित में मणिपुर प्रदेश की कोम भाषा की खानासूचक निकोबार भाषा का शा (=खाना) तथा संस्कृत की आश् (=खाना सूचक धातु) का भी योगदान है। नागा प्रदेश की साङ्तम माषा के शुअ् shuh (=मांस) और उसी प्रदेश की आओ भाषा (लोङ्सा गाँव की आओ) के शो (=मांस) के सन्दर्भ में हम उसी प्रदेश की चाङ् भाषा की शाउ shau (=खाना) क्रिया को उद्धत करना चाहें। नागा प्रदेश की आओ भाषा का शि (=मांस) या उसी प्रदेश की सेमा। समी भाषा का आशि (=मांस) सम्बद्ध है। मणिपुर की ताङ्खुल भाषा के शाइ shai (=खाना) क्रिया से।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में हम यह देख चुके हैं कि यिमचुङ्र (मोकोरी बोली) के शोक या संस्कृत के शुक्त को सिक्किम की लेप्चा भाषा का आच्योक रूप में प्रयुक्त करती है, और इसी की शृंखला में आते हैं मणिपुर प्रदेश की जेलियाङ् भाषा की लियाङ्माइ बोली का चखा (=मछली) बिहार प्रदेश की खड़िया भाषा का चाखना (=तरकारी) और संस्कृत का झस (=मछली) जैसे शब्द। मणिपुर प्रदेश की मइते (=मणिपुरी) भाषा का चाक (=भात, भोजन) या चिनजाक (=भोजन) इन्हीं आच्योक या चखा का एक सगोत्रीय हैं। यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि मइते का चाक जहाँ अन्नाहार का प्रतिनिधि हैं, वहीं आच्योक या चखा मांसाहार का प्रतिनिधित्व करते हैं मइते के चाक (=भात, भोजन) के सन्दर्भ में हमें गुजराती के चोखा (=चावल) और असमीया के जोहा (=धान, विशेष) का भी स्मरण आना चाहिए। चाहे आच्योक (=मांस) हो या चाक (=भात या चाखना तरकारी) इससे सम्बद्ध क्रियाएँ संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी तथा तमिल की हैं। नागा प्रदेश की समी/सेमा भाषा का आचुकुपु (=भोजन) और उसी प्रदेश की लोथा भाषा के ओचाक (=पशुओं का दाना) को भी मइते (=मणिपुरी) के चाक (=भात, भोजन) की पंक्ति में आसन देना होगा और इन सभी को संस्कृत भाषा की जघ् (=खाना) दाक्षिणापथ की तमिल भाषा की आचक्कु (=खिलाना) प्राकृत की चक्ख (=खाना) हिन्दी की चख् और चाख् (=खाना, स्वाद जानने हेतु थोड़ी मात्रा में खाना) जैसी क्रियाओं से सम्बन्धित मानने में हमें कोई संकोच न होना चाहिए। मानक हिन्दी की चख क्रिया को भोजपुरी (=काशिका)

'चीख्' रूप में ग्रहण करती है और अर्थ है 'स्वाद जानने के लिए अल्पांश मात्रा में खाना'। संस्कृत की उपर्युक्त जघ् (=खाना) क्रिया को किसी मातृ भाषा का शब्द नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह जीवित है हिन्दी की चुग् (=चुगना), चुग्गा (=पक्षियों का खाना, दाना) जुगाली (=पशुओं द्वारा चबाना) में हिन्दी के चुग्गा और नागा प्रदेश की सेमा समी भाषा के अचुकुपु (=भोजन) में। अर्थसार की बड़ी ही सुस्पष्ट रेखा दिखाई देती है। संस्कृत की जघ् (=खाना), हिन्दी की चख चाख् (=खाना), भोजपुरी की चीख् (=स्वाद जानने हेतु अल्पांश में खाना) चुग (=चुगना) क्रियाएँ इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि पूर्वापथ की कई भाषाओं में इनकी परवर्ती ध्वनियों यानी घ्, ख् और ग् को स्थापित कर खाना-सूचक क्रियाओं का निर्माण कर डाला है। नागाप्रदेश की आओ भाषा का आचि (इसका धातु रूप 'चि' है) उसी की मूङासेन बोली का आचा, उसी प्रदेश की समी /सेमी भाषा का चु जैसी खाना सूचक क्रियाएँ द्रष्टव्य हैं। मणिपुर प्रदेश की अनाल/अनान भाषा का इचा, मइते (=मणिपुरी) भाषा का चाबा ('बा' हिन्दी का 'ना' है। उसी प्रदेश की मरिङ् भाषा का कचा जैसी खानासूचक क्रियाएँ भी इसी सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं सिक्किम प्रदेश की लेप्चा भाषा में खाना सूचक क्रिया यदि 'जो' है तो असम के बोडो क्षेत्र की बोडो भाषा में 'जा' और असम की दिमासा-कछारी जनजाति की दिमासा भाषा में 'जी' का प्रयोग होता है। इनमें संस्कृत के जघ् (=खाना) की 'ज्' ध्वनि सुरक्षित हैं। सिक्किम प्रदेश की लिम्बु भाषा के चामा (=खाना) में मा हिन्दी के सामान्य क्रिया सूचक 'ना' का पर्यायी ही, मूल धातु 'चा' है। अरूणाचल प्रदेश की मेम्पा भाषा के जाय या जे से ही सम्बन्धित हैं मिज़ोउरम की मिज़ोउ भाषा की खाना-सूचक क्रिया ei एइ। हिन्दी के जूठा, जूठन जैसे शब्दों का सम्बन्ध नागाप्रदेश की समी/सेमा की 'चू' (=खाना) क्रिया से हो सकता है। यों, यह 'चू' क्रिया भी हिन्दी के चुग् (=चुगना) जुगाली जैसे शब्दों की वंशजा है।

पूर्ववती पृष्ठों में अरूणाचल प्रदेश की देउरी भाषा के मांससूचक शब्द 'छुचु' का उल्लेख आ चुका है। हम इसका सम्बन्ध नागा प्रदेश की यिमचुङ्र भाषा की मोकोरी बोली के शोक् (=मांस) और मणिपुरी प्रदेश की कोम भाषा की शाक (=खाना) क्रिया से मानते हैं, इसका सम्बन्ध हिन्दी की भोजपुरी बोली (गोरखपुर की भोजपुरी) के छाक् (=सवेरे का भोजन) एवं हिन्दी की ही भोजपुरी (=काशिका) बोली के भोजन-छाजन (=भोजन) के छाजन से भी स्थापित किया जा सकता है। इस 'छाजन' से सम्बद्ध 'छ्' ध्वनि युक्त खाना सूचक क्रियाएँ भी उपलब्ध हैं। जैसे- मेघालय प्रदेश की गारों भाषा का छाआ तथा अरूणाचल प्रदेश की शेरदुक्पेन भाषा का छुवा। छुवा का प्रयोग 'भात' खाना के सन्दर्भ में होता है। मांस खाना के सन्दर्भ

में यह भाषा 'कुवा' का प्रयोग करती है, जिसका सम्बन्ध सम्भवतः संस्कृत के क्रव्य (=कच्चा मांस) या प्राकृत के कव्व (=मांस) से है गारों के छाआ (=खाना) से भोजपुरी काशिका के छछायल का भी सम्बन्ध हैं। छछायल रहना का अर्थ है हमेशा खाने की इच्छा वाला होना। छा संस्कृत के बुभुक्षा का 'क्षा' है।

लेप्चा के आच्योक (=मांस) का विकास अरूणाचल प्रदेश की भाषा आपातानी में यो (=मांस) और उसी प्रदेश की नाअ् nah भाषा में याकपुक (=मांस flesh) के रूप में विद्यमान है, इनका भी सम्बन्ध संस्कृत की जघ् (=खाना) क्रिया से है।

भोजपुरी (काशिका) के सिकार (=खाद्य में प्रयुक्त मांस की संज्ञा) जापानी के साकाना (=मछली) हिन्दी के साग (=तरकारी या पत्तों की तरकारी) में यदि आहारत्व की खोज करनी होगी तो हमें जापानी के दानाज़िकि (=उपवास) दान-छोड़ना ज़िकि (=भोजन) तथा अरूणाचल प्रदेश की मोन्या (ब्रोके बोली) के जो (=खाना) और तिब्बती की ज़वा (=खाना) जैसी क्रियाओं के सामने रखना होगा। मणिपुरी की चाबा (=खाना) क्रिया उसी क्षेत्र में कहीं-कहीं 'साबा' के रूप में भी सुनाई पड़ती है। इस सन्दर्भ में हमें भोजपुरी (काशिका) के सखरा बरतन (=जूठा बरतन) के सखरा तथा दक्षिणपथ की कन्नड भाषा के साकोदे/साकुवुदे (=पालन करना) का स्मरण आना स्वाभाविक है।

मणिपुर प्रदेश की कुकी (वाइफे बोली) गाङ्ते, पाइते/सिम्ते, ताङ्खुल माओ, अनाल/अनान तथा ह्मार भाषाएँ तिब्बती के 'शा' से विकसित 'सा' (=मांस) का प्रयोग करती हैं इनमें कुकी, गाङ्ते, पाइते और सिम्ते भाषाएँ तिब्बती की खानासूचक क्रिया ज़वा से सर्वथा पृथक 'ने' का प्रयोग करती हैं। इस 'ने' का सम्बन्ध नागाप्रदेश की खियमनिउङन भाषा के मांस सूचक शब्द 'नि' और जापानी के निकु (=मांस) से और बिहार प्रदेश की कुड़ुख भाषा के इन्जो (=मछली) से हैं। हिन्दी भाषा में जापानी के निकु या कुड़ुख के इन्जो का वितरण अन्नाहार वर्ग के नाज या अनाज के रूप में हुआ है।

तङ्खुल भाषा 'शाइ' और झनाल/अनान भाषा इचा का प्रयोग खानासूचक क्रिया के लिए करती है, ये क्रियाएँ भी तिब्बती के शा' (मांस) से ही सम्बन्ध रखती हैं। लेकिन माओ और हमार भाषाएँ क्रमशः तोउ tou तथा फ़ा व्यवहृत करती हैं और ये क्रियाएँ तिब्बती के ज़वा (=खाना) से भिन्न हैं। माओ का तोउ अरूणाचल प्रदेश की कई भाषाओं में प्रयुक्त दोनाम, देनाम (=खाना) से सम्बद्ध है। ह्मार भाषा क फ़ा क्रिया अरूणाचल प्रदेश की मोक्लुम भाषा की फ़ाक (=मांस खाना) की सहोदरा है। कहने की आवश्यकता नहीं इस फ़ाक का भी संबन्ध ग्रीक की फागेइन (=खाना) संस्कृत की भक्ष् (=खाना) हिन्दी की भख (=खाना) तथा हिन्दी के

भोग। (=ठाकुरजी का नैवेद्य) से स्थापित किया जा सकता है। सारांश यह है कि मणिपुर की जो भाषाएँ तिब्बती के 'शा' को 'सा' (=मांस) रूप में प्रयुक्त करती हैं, उनमें सभी भाषाएँ तिब्बती मूल की खाना सूचक क्रिया को स्वीकार नहीं करती। नागाप्रदेश की फोम भाषा मांस के लिए फाइ का फाइहाक तथा उसी प्रदेश की चाङ् भाषा फे का प्रयोग करती है, इन्हें भी हिन्दी के भोग (=ठाकुरजी का नैवेद्य) और हिन्दी की भख् (=खाना) की शृंखला का शब्द समझना चाहिए। अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा का फु (=मांस) और प्राकृत भाषा का पोग्गल (=मांस) भी इसी शृंखला के शब्द है।

भोजपुरी (काशिका) के शिकार (=खाद्य के रूप में मांस की संज्ञा), जापानी के साकाना (=मछली) का विकास नागाप्रदेश की कोन्याक भाषा में अहाक (=मांस flesh) बिहार प्रदेश की ही भाषा में हकु, हइ (=मछली), उसी प्रदेश की सन्ताल भाषा में हाको (=मछली) में विद्यमान हैं, यह पूर्ववर्ती पृष्ठों में कहा जा चुका है। इनके सन्दर्भ में नागाप्रदेश की कोन्याक भाषा की हाअ् hah (=खाना) उसी प्रदेश की भाषा की खियमनिउङ्न (khiamniungen) हे he (=खाना) क्रियाएँ ध्यातत्व हैं।

भाषाओं में 'क्' और 'ल्' के ध्वनि परिवर्तन के उदाहरण प्रायः प्राप्त होते हैं। इस सन्दर्भ में संस्कृत के मुख और अंग्रेजी के माउथ mouth को प्रायः उद्धृत किया जाता है। स्पेनी या आमीगो (=दोस्त) और हिन्दी का मीत तथा संस्कृत का मित्र भी ऐसे ही ध्वनि परिवर्तन के साक्षी हैं। तिब्बती भाषा का मिग (=आँख) या नागा प्रदेश की कोन्याक भाषा का अमक् umuk मइते (मणिपुरी) में मित के रूप में बिद्यमान हैं। अतः उक्त ध्वन्यात्मक रूपान्तरण के परिप्रेक्ष्य में पूववर्ती पृष्ठों में नागाप्रदेश की कोन्याक भाषा (ताङ्न्यु गाँव की कोन्याक) के असाक् (=मांस) और प्राकृत भाषा के सित्थि (=मछली) भोजपुरी (काशिका) के सिधरी (=मछली विशेष), बिहार सन्ताल भाषा के हाको (मछली) नागाप्रदेश की कोन्याक भाषा के अहाक् (=मांस flesh) तथा उसी प्रदेश की ज़ेमे/ज़ेमी भाषा के हतेउ (=मांस) को भी परस्पर सम्बद्ध स्वीकार करना सर्वथा समीचीन होगा। प्राकृत के सित्थि (=मछली), भोजपुरी के सिधरी (=मछली विशेष) की आहार सम्बन्धी अर्थवता के संज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि हम अरूणाचल प्रदेश की वान्चों भाषा के - नागाप्रदेश के कोन्याक लोग वान्चो को अपनी एक शाखा मानते हैं- सात् - (=भोजन) या उसी प्रदेश की मिजु भाषा के स्यात (=भोजन) से परिचित हों। भोजपुरी (गोरखपुर की भोजपुरी) के बेरहतिया[1] (=रात्रिकालीन भोजन) के हतिया को वान्चो के सात से

१. "बेर" का सम्बन्ध भोजपुरी (काशिका) के रात-बिरात (=रात) के बिरात से है।

पृथक नहीं किया जा सकता। वान्चो के सात (=भोजन) का मूल कहाँ है, यह तभी ज्ञात हो सकेगा जब हम प्राकृत के सद्ध (=श्राद्ध) यानी पितरों की तृप्ति हेतु पिण्डदान करना, भोजपुरी (काशिका) के सिद्धा और अवधी के सीध[1] (=प्रदान या वितरित की जाने वाली आटा, चावल, दाल आदि सामग्री), संस्कृत के सुतः (=अनाज) और ग्रीक के सितोस (=अनाज) से परिचित हों। बान्चों के सात की स् ध्वनि का सघोषी रूप मणिपुर प्रदेश की ताङ्खुल भाषा के ज़ात zat (=भात) में दृष्टिगोचर होता है। बान्चों के सात (=भोजन) की स् ध्वनि का तालव्यीकृत रूप दक्षिणापथ की तमिल भाषा के शादम (=भात) में विद्यमान हैं अरूणाचल प्रदेश की मिजु भाषा के श्यात (=भात) में भी 'क्' और 'त्' के ध्वनि परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में भोजपुरी (=गोरखपुर की भोजपुरी) का छाक् (=सवेरे का भोजन) और अरूणाचल प्रदेश की सिङ्फो भाषा का छात (=भात) पृथक न ज्ञात होगें। चीन की (कैन्तन क्षेत्र की चीनी) और कोरियायी भाषा के शिक (=भोजन) और मराठी (=वैदर्भी) के शिदोरी (=पाथेय के रूप में प्रयुक्त पूड़ी आदि जैसे पक्वान्न तथा शिधा (ब्राह्मण आदि को दी जाने वाली भोजन-सामग्री, जैसे- आटा आदि) के मध्य में भी एक आन्तरिक सम्बन्ध परिलक्षित होगा, यदि 'क्' और 'ल्' परिवर्तनवाली ध्वन्यात्मक रीति को ध्यान में रखा जाए।

प्राकृत का सित्थि (=मछली) सम्बन्धित है संस्कृत के पिशित (=मांस) के शित से। अरूणाचल प्रदेश की आका, और तुत्सा भाषाओं के मांससूचक शब्द सी तथा नागा प्रदेश की ज़ेमे/ज़ेमी भाषा का ज़ि (=मांस) सित्थि या सिधरी के अवशेष हैं।

उपर्युक्त सात (=भोजन) सितोस (=अनाज) से सम्बन्धित खानासूचक क्रियाएँ युरुप की तीन भाषाओं तथा अरूणाचल की छह भाषाओं में प्रयुक्त होती हैं।

इस सम्बन्ध में ग्रीक की एस्थिओ,[2] रूसी की एस्त तथा चेक (भूतपूर्व चेकोस्लेवाकिया का चेक) की यीस्त जैसी खानासूचक क्रियाएँ द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार अरूणाचल प्रदेश की मोक्लुम भाषा की सीत, लोङ्चाङ भाषा की आसात, तुत्सा भाषा की एसात, मोन्राङ् भाषा की सात, हावि भाषा की सात, किम्सिङ् भाषा की सि जैसी खानासूचक क्रियाएँ भी स्मरणीय हैं। नागाप्रदेश की ज़ेमे/ज़ेमी भाषा के सेत्बे (=चबाना) क्रिया भी ध्यातव्य है।

१. जँह जॅह आवत बसे बराती, तँह-तँह सीध चला बहुभाँती- देखें श्रीरामचरित मानस में राम-विवाह।

२. इस शृंखला की महत्त्वपूर्ण कड़ियों के रूप में हिन्दी की अवधी बोली के सीतु (=चावल का दाना), यूरूप की लिथुआनी के सितुवस (=बीज बोने की टोकरी) और भोजपुरी (आजमगढ़ की मेहनाजपुर क्षेत्र) के सधउर (=प्रथम बार गर्भवती होने पर नैहर की ओर से कन्या को भेजा जाने वाला पक्वान्न, जैसे- पूड़ी, मिठाई, हलवा इत्यादि) जैसे शब्द उपस्थित किये जा सकते हैं।

अब मांससूचक तथा उससे सम्बन्धित खानासूचक क्रिया एवं भोजन सूचक उन शब्दों पर विचेचन किया जायेगा, जो 'क्' या 'ख्' या 'ग्' से प्रारम्भ होते हैं। इस शृंखला के प्रमुख सदस्य हैं कोरियायी भाषा का कोगि/गोगि, लातिन का कारो, स्पेनी और इतालवी का कार्ने ग्रीक का क्रेआस, नागाप्रदेश की अंगामी भाषा का (विश्वेमा गाँवा की अंगामी) खुओ (=मछली) मानक अंगामी का खुओ, संस्कृत का क्रव्य (=कच्चा मांस) स्वीडिश का कोयट, फारसी का गोश्त, कश्मीरी का गाड (=मछली), अरूणाचल प्रदेश की नोक्ते आदि भाषाओं का ङाम्। ङाम् मूलतः काम जैसा शब्द रहा होगा। 'म्' के प्रभाव से 'क्' ध्वनि 'ङ्' में परिवर्तित हुई होगी, जैसा कि संस्कृत के वाक्मय के वाङ्मय शब्द निर्मित होता है। कभी-कभी 'क्' ध्वनि का स्थान 'च्' लेती है, कभी-कभी 'क्' स्थान पर 'त्' भी प्रयुक्त होता है। अतएव इसी शृंखला में ऐसे मांससूचक, खानासूचक और भोजनसूचक शब्द भी समाविष्ट हैं। जो 'च्' या 'त्' से प्रारम्भ होते हैं। अतः ग्रीक के क्रेआस् (=मांस) के साथ-साथ प्राकृत के तरस (=मांस) या दक्षिणापथ की तमिल भाषा के तसै (=मांस flesh या संस्कृत के झष (=मछली) जैसे शब्दों पर भी विचार किया गया है।

लातिन का 'कारो' शब्द

लातिन भाषा के कारो (=मांस) के सम्बन्ध में नागाप्रदेश की अंगामी भाषा के विश्वेमा गाँव की अंगामी, खुओ (=मछली) या उसी भाषा के खुओ (=मछली), उसी प्रदेश की छोक्री और खेज़ा भाषाओं के खु (=मछली), अंगामी भाषा के गान्या गारा (=तरकारी), सेमा भाषा के उसी आखुलो (=तरकारी) जैसे शब्द विचारणीय हैं। इनसे सम्बद्ध खाना सूचक क्रियाएँ फारसी भाषा की खुरदन् है, अरूणाचल प्रदेश की शेरदुक्पेन भाषा की कुवा है। इनसे सम्बन्धित भोजन सूचक शब्द नेपाली का खानेकुरा, दक्षिणापथ की तमिल भाषा कोर्रू (=भोजन), प्राकृत का कूर (=भात) हिन्दी का कौरा (=कुत्ते आदि को दी जाने वाली रोटी आदि) जैसे ध्यातव्य हैं।

कारो (=मांस) का प्रतिनिधित्व अन्नाहार वर्ग में भी विद्यमान हैं। संस्कृत के कृदरम् (=धान्यागार) का कृ आदि नागादेश की समी/सेमा भाषा में आग़ि (=धान) के रूप में आसीन है, तो वही भोजपुरी (काशिका) के खरिहान और करहनी (=धान की एक प्रजाति) में भी उपस्थित है, फ्रासीसी भाषा का कोर (=दाना) भी इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं, हिन्दी के खलिहान में 'र्' ध्वनि नहीं 'ल्' प्रयुक्त है। संस्कृत के कृदरम् (=धान्यागार) में 'कृ' से किस अन्न की ओर संकेत है, इस आशय सेमा/समी भाषा के आग़ि से सुस्पष्ट होता है।

बर्मी भाषा का अथेर्

उपर्युक्त कारो (=मांस) की 'कृ' ध्वनि 'त्' रूप में प्रयुक्त हुई है बर्मी भाषा के

अथेर (=मांस) में, नागा प्रदेश की छोक्री भाषा के थि (=मांस) में अथेर की 'र' ध्वनि स्थगित है। नागा प्रदेश की आओ भाषा के ताला (=भगवान लिचाबा को अर्पित मांस खण्ड की संज्ञा) और अरूणाचल प्रदेश की मोक्लुम भाषा के तिल (=भोजन में अथेर की 'र्' ध्वनि 'ल्' में ग्रहण की गयी। किन्तु बोडो भाषा के आदार (=भोजन) में मूल 'र्' ध्वनि सुरक्षित हैं। लातिन की एदेरे (=खाना) और फिन भाषा की अतेरिओइ (=खाना) क्रियाएँ अथेर की अर्थवत्ता को और अधिक सुस्पष्ट करती हैं। छोक्री भाषा का थेरि में (=धान) अन्नाहार का प्रतिनिधि है। धान के अर्थ में 'थेरि' एक प्राचीन शब्द है। आधुनिक अंगामी और छोक्री दोनों भाषाओं में अब धान के तेल्हा telha का प्रयोग होता है। मणिपुरी के तराचाक (=भात, भोजन) से ज्ञात होता है कि अथेर (=मांस) का भोक्ता अब कृषिजीवी हो गया है।

मुंडारी का 'जिलु' शब्द

बिहार प्रदेश की मुंडारी और हो भाषाओं में मांस सूचक शब्द जिलु है, किन्तु सन्ताल में जेल है। यदि हिन्दी भाषी इन शब्दों से परिचित न होते तो चील (=मांसभक्षी प्रसिद्ध पक्षी) की संरचना न हो सकती थी। भोजपुरी (काशिका) में यह पक्षी चिल्होर कहा जाता है। जिलु और जेल (=मांस) का आहारत्व सूचित होता है प्राकृत के चेल्लक (=भोजन) युरुप की उक्रेनी या युक्रेनी भाषा के बेचेर्या (=रात का भोजन, डिनर) भोजपुरी (गोरखपुर की भोजपुरी) के बियारी और हिन्दी के ब्यालू (=रात का भोजन) दक्षिणापथ की मलयालम भाषा के चोरू (=भात), भोजपुरी (काशिका) के चाउर् (=चावल) संस्कृत के चरु (=होम करने का अन्न आदि) हिन्दी के चारा (=पशुओं का भोजन) से। इसी शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है मइते भाषा का चरा (=भोजन)। काङलैपाक (=मणिपुरी) की क्रुद्ध पीढ़ी सम्भव है कि उपर्युक्त चरा (=भोजन) को संस्कृत के चरु, हिन्दी के चारा इत्यादि से अपना सम्बन्ध न स्थापित करें, किन्तु चीनी भाषा की खाना सूचक क्रिया 'छ्रे' उन्हें ऐसा न करने देगी। मइतें के तराचाक (=भात, भोजन) से पुनः इस तथ्य की पुष्टि होती है। कि चरा वाली यह शृंखला और बर्मी के अथेर (=मांस) से सम्बद्धवाली शृंखला के शब्द अपृथक हैं।

संस्कृत का उपर्युक्त 'चरु' मूलतः भोजनवाची शब्द था। रामचरितमानस में 'हवि' और चरु समानार्थी शब्द हैं और भोज्य पदार्थ को सूचित करते हैं। महाराज दशरथ द्वारा पुत्र कामना हेतु यज्ञ कराने पर अग्निदेव 'चरु' लेकर प्रकट होते हैं। और वशिष्ठ ऋषि उसी चरु या हवि को रानियों को खिलाने का परामर्श देते हैं। देखें ये पंक्तियाँ- प्रगटे आगिनि चारु कर लीन्हें तथा 'यह हवि बाँटि देहु नृपजाई।'

बर्मी का 'असेर' शब्द

पूर्ववर्ती पृष्ठों में कहा जा चुका है कि कुछ भाषाएँ 'च्' और 'छ्' को 'स्' रूप में ग्रहण करती हैं। संस्कृत का चन्द्र सिंहली भाषा में सन्द (=चन्द्रमा, चाँद) रूप में प्रयुक्त होता है। नागाप्रदेश की जेमे भाषा की एक बोली ऐसी है जो मानक प्चेमी की 'च्' को 'स्' रूप में ही प्रयुक्त करती है, उसका कारण है कि उस बोली में 'च्' का अस्तित्व नहीं हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि बर्मी का असेर (=मांस) प्राकृत के सोल्ल (=मांस) से सम्बद्ध है और यह सोल्ल भी मूलतः प्राकृत के चोल्लग (=भोजन) का प्रतिनिधि है, प्राचीनतम प्रतिनिधि।

हिन्दी भाषा संस्कृत की 'र्' ध्वनि को कभी-कभी 'ड़' रूप में ग्रहण करती है। संस्कृत का वर (=श्रेष्ठ) मानक हिन्दी में 'बड़ा' के रूप में प्रयुक्त होता है, जबकि बिहार के कुछ क्षेत्र में यह 'बरा' रूप में ही प्रचलित है। इसी प्रवृत्ति के अनुसार बर्मी के असेर की 'स्' ध्वनि को 'ह्' में परिवर्तित कर तथा 'र्' को 'ड़' में ग्रहण कर बिहार प्रदेश की कुड़ुख भाषा का अहड़ा (=मांस) शब्द निर्मित हुआ होगा। बर्मी के असेर का भोजनवाला अर्थ निहित है संस्कृत के 'आहार' में और भोजपुरी (काशिका) के हुरब (खाना) में भी। यद्यपि वर्तमान समय में हूरब का प्रयोग हेय माना जाता है। और हुर लै (=खालो) का प्रयोग क्रोधावेश में किया जाता है, किन्तु कभी यह साधु प्रयोग भी था, जैसा कि संस्कृत के आहार (=भोजन) को एक आदरी शब्द समझा जाता है। बर्मी का असेर सूचित कर रहा है कि बर्मी जनों और भारतीय जनों के मध्य उसी समय सम्पर्क स्थापित हो गया था, जब मनुष्य अहेरी था आखेटक था, वह भी खाद्योत्पादक नहीं था। इसी असेर (=मांस) के भोजनत्व का स्थानान्तरण सम्भवतः अंग्रेजी की सेरेल् (=अनाज), लातिन के सेरेस (=कृषि की देवी) संस्कृत के शालि (=धान की एक प्रजाति), हिन्दी के सालि, भोजपुरी (काशिका) के साठी (=धान की एक प्रजाति), बिहार प्रदेश की सन्ताल भाषा के होड़ों (=धान) और श्रीलंका की सिंहल भाषा के सहल (=चावल) जैसे शब्दों में हुआ है, जो कृषियुग के शब्द हैं। इस सम्बन्ध में बिहार प्रदेश की हो भाषा की असुल क्रिया (=पालन करना) भी ध्यातत्व है, जिसका प्रयोग मांसाहार वर्ग असेर (=मांस) के सन्दर्भ में हो सकता है। और जिसका प्रयोग प्राकृत के सोल्ल (=मांस) के संदर्भ में हो सकता है और जिसका सम्बन्ध सालि (=धान की एक प्रजाति) जैसे अन्नवर्गीय शब्दों से भी स्थापित किया जा सकता है ।

संस्कृत का 'क्रव्य' शब्द

संस्कृत का क्रव्य (=कच्चा मांस) और प्राकृत का कब्ब (=कच्चा मांस)

कभी मनुष्य के प्रमुख खाद्य पदार्थ थे, इसकी पुष्टि लातिन के किबुस cibus (=भोजन food), भोजपुरी (काशिका) के खाब, खबवा (=भोजन) और हिन्दी के खबोर (=अधिक मात्रा में खानेवाला) से होती है। अरूणाचल प्रदेश की शोरदुक्पेन भाषा की कुवा (=खाना) क्रिया इसलिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका प्रयोग केवल मांस खाना के सन्दर्भ में होता है। यहाँ हिन्दी का गप्फा (=कवल, ग्रास, एकबार मे मुंह में डाली जाने वाली भोजन की मात्रा) तथा जर्मन की काउऐन Kauen (=चबाना) क्रिया भी स्मरणीय है। फारसी का कबाब सूचित कर रहा है कि क्रव्य (=कच्चा मांस) का भोक्ता मानव अब मांस को भून कर खाने लगा था । कवाब का अर्थ है 'भूना हुआ मांस' हिन्दी भाषी क्षेत्रों में शराबी-कबाबी (शराब पीने वाला और मांसाहारी) का प्रयोग प्रचुरता से प्रचलित है।

कब्ब, खाब,गप्फा इत्यादि की क्, ख्, और ग् ध्वनियों के स्थान पर च्, छ् और ज् प्रयुक्त होने पर इस श्रृंखला के जो शब्द उपलब्ध हैं, उनमें नागा प्रदेश की आओ भाषा का शि चय् (=पर्व आदि पर परिजनों-मित्रों को उपहार स्वरूप प्रदत्त मांस), अरूणाचल प्रदेश की देउरी भाषा का जबुरा (=सब्जी) दक्षिणापथ की तेलुगु भाषा का जेप (=मछली) चीनी भाषा का इयु (=मछली), अरूणाचल प्रदेश की आपातानी भाषा का यो (=मांस) यूरुप की इतावली भाषा का चिबो Chibo (=भोजन food) संस्कृत का चर्व (=चबाना), अंग्रेजी का च्यु chew (=चबाना) भोजपुरी (काशिका) के माल चामना (=पौष्टिक पदार्थ खाना) में प्रयुक्त चाभ् संस्कृत का जम (=चबाना) मराठी का जेवणें (=खाना) हिन्दी का जेवनार (=दाल, भात, पूड़ी आदि भोज्य पदार्थो की सामूहिक संज्ञा) जैसे शब्द ध्यातव्य हैं हिन्दी का जेवनार, फारसी का चोब (=भात) सिन्धी का जवालु (=जिसके पास अनाज हो वह), नागाप्रदेश की जेमे/जेमी भाषा के चेउकि, सेउकि (=धान्यागार) में प्रयुक्त चेउ, सेउ (धान), राजस्थानी का चिरवा (=चिउड़ा), नागाप्रदेश की चाङ भाषा के योउलि (=धान का बीज) में प्रयुक्त योउ (=धान) अन्नाहार का प्रतिनिधित्व करते हैं।

'च्' के स्थान पर 'त्' के प्रयोग से निर्मित जापानी भाषा की ताबेरू (=खाना) क्रिया का सम्बन्ध प्राकृत के कब्ब (=कच्चा मांस) और मणिपुर प्रदेश की माओं भाषा के तोड, नागाप्रदेश की जेमे/जेमी भाषा के तेउबे teube (=खाना) क्रियाओं से जुड़ता है।

'च्' ध्वनि 'स्' रूप में जब ग्रहण की जाती है तब हमें अरूणाचल प्रदेश की सिङ्फो भाषा का साफा (=भोजन), जर्मन भाषा का स्पाइजे Speise (=भोजन, food) दक्षिणापथ की तमिल भाषा का साप्पिडु (=खाना), बर्मा या म्यानमा की दानव भाषा का सुए (=भात खाना), मणिपुर प्रदेश की माओं भाषा का ओसोउ

(=मांस), नागाप्रदेश की लोथा भाषा का ओसो (=मांस) अरूणाचल प्रदेश की शेरदुक्पेन भाषा का सु (=मांस), उसी प्रदेश की ब्रोके (=मोन्पा की एक बोली) का ज़ो zo (=खाना) शब्द प्राप्त होते हैं।

नोक्ते का ङाम् शब्द

अरूणाचल प्रदेश की नोक्ते और ताङ्सा ये दो भाषाएँ मांस के लिए ङाम् का प्रयोग करती है। ताङ्सा की जोग्लि, मोक्लिुम और लोङ्चाङ् बोलियों में भी डाम् प्रयुक्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि डाम् शब्द मूलतः काम् था। 'म्' के प्रभाव से 'क' ध्वनि 'ड्' में परिवर्तित हुई है। इस अनुमानित शब्द काम से सम्बन्धित भोजनासूचक शब्द श्रीलंका की सिंहल भाषा का केम, स्पेनी भाषा का कोमीदा food और प्राकृत का क़म्मण हैं रूसी का प़ेदक्रम (=मुख्य भोज्य पदार्थ से पहले परोसी जानेवाली खाद्य सामग्री) से विदित होता है कि यह श्रृंखला लातिन के कारो (=मांस) फारसी के खुर्दन् (=खाना),भोजपुरी के कवर् (=ग्रास, कवल) से सम्बन्धित है। जो सम्बन्ध हिन्दी के कर् (=करना) संस्कृत के कर्म और हिन्दी के काम में हैं, वहीं सम्बन्ध कारो (=मांस) खुरदन के खुर् (=खाना) प्रेदक्रम और कम्मण या कर्म में है। ङाम अनुमानित रूप काम के भोजनत्व को सुस्पष्ट करती हैं। प्राकृत की कम्म तथा स्पेनी की कोमोर Comar जैसी खानासूचक क्रियाऐं। अन्नवर्ग में जापानी भाषा का कोमो (उच्चारित रूप ङोमो) अरूणाचल प्रदेश की इदु भाषा का कम्बा (=धान) और भोजपुरी (गोरखपुर की भोजपुरी) का कमोदी (=धान की एक प्रजाति) जैसे शब्द ध्यातव्य हैं। जापानी के धान सूचक शब्द कोमो का उच्चारण प्रायः डोमो जैसा सुनाई पड़ता है। इंसीलिए यहाँ दोनों रूप दिये गये हैं।

ताङ्सा और नोक्ते भाषाओं में प्रयुक्त ङाम (=मांस) की मूलतः 'काम्' के रूप में कल्पना की गयी है। इसकी नागाप्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की लियाङ्माइ बोली के चेमि chemi (=मांस) से भी होती है। चेमि का अहारत्व जीवित है गुजराती के जमण (=भोजन) अरूणाचल प्रदेश की तुत्सा भाषा के चाम (=भोजन food) सिक्किम प्रदेश की लेप्चा भाषा के अजोम (=भोजन) से । इससे सम्बद्ध खानासूचक क्रियाएँ हैं प्राकृत की चमट् और जम्म, बिहार प्रदेश की मुंडारी एवं सन्ताल भाषाओं की जोम और उसी प्रदेश की खड़िया भाषा की ञोना। चेमि में यदि मांसाहार का प्रतिनिधित्व हुआ हैं, तो अरूणाचल प्रदेश निशिङ् भाषा के चिरमि (=पूजा-अनुष्ठान में प्रयुक्त चावल, अक्षत की संज्ञा) राजस्थानी (सीकर क्षेत्र की) के चिरवा (=चिउड़ा), नागाप्रदेश की यिमचुङ्र भाषा के जिम् (=भात) तथा सिन्ध प्रदेश की सिन्धी भाषा के चाँवर (=भात) के अन्नाहार का प्रतिनिधित्व दिखाई देता है।

'च्' ध्वनि 'स्' रूप में भी उच्चारित होती है, जैसा कि संस्कृत का चन्द्र प्रयुक्त होता है सिंहल के सन्द रूप में यह स्वाभाविक है कि लियाङ्माई का चेमि (=मांस) प्राकृत में सोमाल (=मांस) के रूप में प्राप्त हो। इस प्रकार यह सोमाल बर्मी भाषा के सामें (=खाना) से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। स्वयं प्राकृत भाषा भी खाना क्रिया के लिये समाण का प्रयोग करती है। प्राकृत- हिन्दी कोश में सोमाल (=मांस) को देशज शब्द बताया गया है। देशज का अर्थ है जिसका निर्वचन संस्कृत, प्राकृत, पालि के शब्दों की सहायता से न हो सके। किन्तु अब सोमाल अज्ञात व्युत्पत्तिक शब्द नहीं रह गया उसका आशय सामें (=खाना) की पृष्ठिभूमि में सुस्पष्ट किया जा सकता है। 'स्' ध्वनि 'ह्' में परिवर्तित होकर प्राकृत का सोमाल (=मांस) शब्द नागाप्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की ज़ेमे/ज़ेमी में हमेउ (=मांस) रूप में आसीन है। निकोबार की एक बोली में हम् (=चावल खाना) क्रिया का प्रयोग सूचित करता है कि सामें (=खाना), चाम (=भोजन) जैसे शब्द एक व्यापक क्षेत्र में प्रचलित थे। नागाप्रदेश की चाङ् भाषा की साम् (=पालन-पोषण करना) क्रिया भी इसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

यदि ग्रीक भाषा के देर्म और संस्कृत के चर्म (=चमड़ा) को परस्पर माना जाता है, तो लियाङ्माइ के चेमि (=मांस) और उसकी बहन अंगाभी के थेमुओ[1] (=मांस) अरूणाचल प्रदेश की देउरी भाषा के दमि (=मांस-मछली) उसी प्रदेश की मिजु भाषा के थाम (=मांस खाना) संस्कृत के तिमि (=मछली विशेष) में भी कोई न कोई सम्बन्ध स्वीकार करना होगा। नागाप्रदेश की कोन्याक भाषा का ताम्यु (=पालन पोषण करना) भी थेमुओ, दमि के आहारत्व को, उनमें ऊर्जा की ओर संकेत करता है। कश्मीरी के तोमल (=भात) संस्कृत के बध्याम (=अनाज) तथा उसी भाषा के दुयुम्नम (=अनाज) जैसे शब्द अन्नाहार के प्रतिनिधि हैं।

ग्रीक का क्रेआस् शब्द

यदि ग्रीक का क्रेआस (=मांस) यूरोपीय प्रतिनिधि है, तो भारतीय प्रतिनिधि के रूप में प्राकृत भाषा का तरस (=मांस) दक्षिणापथ की तमिल भाषा का तसै (=मांस flesh) प्रयुक्त हैं। तमिल के तसै के किसी वर्णसंकोची रूप से नागा प्रदेश की अंगामी भाषा का त्चे या त्से (=मांस) उसी प्रदेश की खेज़ा भाषा का एच्छे ethsu (=मांस), अरूणाचल प्रदेश की आका भाषा का चे (=मांस) जैसे शब्द सम्बन्धित ज्ञात होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत के तरस का भी वर्णसंकोची रूप प्रचलन में था, जिसमें संस्कृत का पुरोडाश या हिन्दी का पुरोडास शब्द निर्मित हुआ है, और यह खाद्य पदार्थ है। जैसा कि गोसाई जी के 'पुरोडास चह रासभ

१. येमुओ का प्रयोग प्रायः अंग्रेजी के flesh के अर्थ में होता है।

खावा' के उल्लेख से सुस्पष्ट है, भोजपुरी (गोरखपुर की भोजपुरी) के टोसा (=रास्ते का भोजन, पाथेय) से भी तरस के आहारत्व की सूचना प्राप्त होती है। नागाप्रदेश की कई भाषाएँ त्सो (=खाना) जैसी क्रियाएँ प्रयुक्त करती हैं; जैसे लोथा की त्सो, साङ्तम् की tsu त्चु, अंगामी की cu त्वे या त्से, रेङ्मा की त्वा, पोचुरी की त्वा, यिमचुङ्र की त्वेपा tsupa, इन्हीं के मेल में अरूणाचल प्रदेश की मिजि भाषा भी त्सुअ् tsuh का प्रयोग खाने के अर्थ में करती है। नागाप्रदेश की ज़ेमे/ज़ेमी भाषा के तेसेउ teseu (=भोजन) और उसी प्रदेश की समी/सेमा भाषा आलिबे तज़ alibe tuzu (=पकाया हुआ भोजन) से भी विदित होता है कि तरस या तसै या त्से, त्वे (=मांस) आदिम स्तर के आहार हैं और इन्हीं से विकसित हुआ है संस्कृत का घासिः (=अनाज, अन्न) और नागाप्रदेश की ज़ेलियाङ् भाषा की लियाङ्माइ बोली का तेसु (=धान), जो अन्नाहार के प्रतिनिधि है।

यदि हम संस्कृत के गुरु, गौरव और गरीयस या गरीयसी (जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादीप गरीयसी) तथा जर्मन के ग्रोस (=बड़ा) (ग्रेट) के सम्बन्ध को ज्ञात कर लें, तो लातिन के कारों (=मांस) फारसी के खुरिश (=सहायक खाद्य पदार्थ, जैसे दाल,सब्जी मांस इत्यादि), ग्रीक के क्रेआस् (=मांस का सम्बन्ध भी ज्ञात हो जायेगा। डॉ० रामविलास जी ने फ़ारसी के गोश्त (=मांस) का मूल अर्थ भोजन किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं ग्रीक का क्रेआस या फ़ारसी का गोश्त, चेक भाषा का गुलाश (=मांस का विशेष भोजन) आदिम स्तर के आहार पदार्थ हैं। इनके आहारत्व की सूचना प्रदान करने वाले शब्द हैं। अरूणाचल प्रदेश की सुलुङ भाषा का गोछिजा (=खाना), रूसी की कुशात् (=खाना) क्रिया संस्कृत की घस् (=खाना) क्रिया। इसी घस् से विकसित हैं संस्कृत का घस्मर (=पेटू) प्राकृत का घसिर (=पेटू, यानी बहुत मात्रा में खाने वाला) और संस्कृत का ग्रास या हिन्दी का गस्सा (=कवल या कौर) जिस प्रकार से प्राकृत के तरस या तमिल के तसै (=मांस) से सम्बन्धित अन्नाहारवाली श्रृंखला में तेसु (=धान) या धासिः अनाज जैसे शब्द उपलब्ध हैं, उसी प्रकार ग्रीक को क्रेआस (=मांस) भी अन्नाहार के प्रतिनिधित्व से वंचित नहीं हैं। जर्मन के गेर्स्टे (=जौ नामक अन्न) और बिहार प्रदेश की कुड़ुख भाषा के ख़ेस (=धान) और अंग्रेजी के ग्रोसर Grocer (=पनसारी यानी आटा आदि बेचने वाला) में अन्नाहार का प्रतिनिधित्व हुआ है। भोजपुरी (काशिका) का गूरी (=कूटकर छिलका अलग किया हुआ जौ) ही जर्मन के गेर्स्टे (=जौ) के मूल है, किन्तु यह हमें तभी ज्ञात होगा जब हम संस्कृत के गुरु और गरीयस तथा जर्मन ग्रोस (बड़ा, ग्रेट great) के आन्तरिक सम्बन्धों से परिचित हों, इन शब्दों की ध्वन्यात्मक तथा शब्द निर्माण की रीतियों से अभिज्ञ हों।

स्वीडिश का कोयट शब्द

स्वीडिश भाषा के मांससूचक शब्द कोयट के प्रसंग में कश्मीरी के गाड (=मछली) का स्मरण आना स्वाभाविक है। स्वीडिश के कोयट से भारतीय परिचित थे, अन्यथा संस्कृत में कौटिक (=मांस विक्रेता) और मराठी में खटिक (=कसाई) जैसे शब्दों का निर्माण न हो सकता था। इस सम्बन्ध में संस्कृत के आखेट (=शिकार करना) या रूसी भाषा के अखोता (=शिकार करना) स्मरणीय हैं और स्मरणीय हैं हिन्दी कढ़ी (=बेसन पकौड़ी की रसेदार तरकारी) नागाप्रदेश की समी/सेमा भाषा का आखुलो (=तरकारी), असमीया की पुठि खलिहा (=मछली की एक प्रजाति), अरबी का अकल (=खाना) उसी भाषा का क़लियः (=भूनकर बनाया गया रसेदार मांस) जैसे शब्द भी। इनसे सम्बन्धित एवं विकसित अन्नाहार वर्ग के जो शब्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उनमें संस्कृत का क्षु या क्षुत (=अनाज) उसी का कृत्तिः (=अनाज) हिन्दी का केतकी (=धान विशेष) भोजपुरी (=काशिका) का आखत (=आशीर्वाद स्वरूप नववधू के अंचल में डाला जाने वाला चावल) नागा प्रदेश की अंगामी भाषा का खुतिए या खुत्ये (=भात) दक्षिणापथ की कन्नड़ भाषा का काल (=दाना), इतालवी भाषा का काल्लो (दाना corn) इत्यादि मुख्य हैं।

स्वीडिश के कोयट (=मांस) अंगामी के खुतिए या खुत्ये (=भात) सेमा के आखुलो (=तरकारी) या अरबी के कलियः (=रसेदार मांस) के सन्दर्भ में हिन्दी के कटोरा और खदोना (=दोना), नागाप्रदेश की आओ भाषा के कला (=दोना यानी पत्तों का बना कटोरा), हिन्दी के कुल्हड़ (=मिट्टी का बना छोटा गिलास या प्याला) जैसे शब्दों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इन्हीं पात्रों में खाने या पीने की क्रिया सम्पादित की जा सकती है।

❑

ग्राम- मझभिटिया,
छोटा लालपुर, आजमगढ़ रोड,
पानी की टंकी के पास
पोस्ट- वाराणसी,
कैन्ट वाराणसी, उ०प्र०

अमृत राय का 'सहज कहानी' संबंधी प्रत्यय

डॉ० कुमार वीरेन्द्र सिंह

'सहज कहानी' नयी कहानी की प्रतिक्रिया में उपजी अमृत राय की खोज है। सन् १८६८ ई० में 'नयी कहानियाँ' पत्रिका का स्वामित्व अमृतराय ने राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से खरीद लिया और अपने संपादन में इसे इलाहाबाद से प्रकाशित करने लगे। इस पत्रिका का संपादकीय 'सहज कहानी' शीर्षक के अंतर्गत वे लिखने लगे तथा ऐसा लगा कि वे सहज कहानी नाम से एक नया सूत्रपात करने जा रहे हैं। 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा' नामक पुस्तक में दिए गए उनके वक्तव्यों से स्पष्ट होता है कि नयी कहानी की असमर्थताओं ने उन्हें 'सहज कहानी' की अवधारणा बनाने पर विवश किया।

हालांकि 'सहज कहानी' एक व्यापक आंदोलन नहीं बन सकी, लेकिन नयी कहानी की कलात्मक रूप-संरचना एवं अकहानी-वादियों की यौन अतिरंजना के खिलाफ एक विद्रोही आवाज के रूप में अपना महत्त्व रखती है।

ध्यातव्य है कि सातवें दशक में हिन्दी कहानी के संदर्भ में संत्रास और सेक्स को फैशन बनाकर लिखा और चर्चित किया जा रहा था। विदेशी साहित्य का प्रभाव इतना नहीं था, जितना कि उनकी नकल की जा रही थी। अमृत राय ने 'नई कहानियाँ' पत्रिका के माध्यम से 'सहज कहानी 'संबंधी प्रत्यय का सृजन कर यह स्पष्ट किया कि हमारी स्थापनाओं, जीवन-दृष्टि और परिवेश-विश्लेषण का आधार हमारे द्वारा देखा-भोगा हुआ जीवन होना चाहिए, विदेशी साहित्यकारों द्वारा प्रस्तुत किया हुआ जीवन-दर्शन नहीं। इस प्रकार अमृत

राय ने हिन्दी कहानी की स्वस्थ परम्परा को आगे बढ़ाया और सामाजिक राजनीतिक सन्दर्भों पर लिखे गये लेखन को प्रोत्साहित करते हुए उन्हें भोगे हुए जीवन के परिप्रेक्ष्य में स्वीकारा। उन्होंने मत व्यक्त किया कि निषेध अगर जीवनावस्था से लैस नहीं है, तो महज नारों की भीड़ बनकर रह जाएगा। उन्होंने देशकाल के संदर्भ से कटी हुई छद्म आधुनिकता का विरोध किया। अमृत राय[१] ने आज की कहानी पर अपने विचार रखते हुए कहा है-"आज की कहानी-परियों की कहानी नहीं रह गयी है और न उसमें केवल 'यथार्थ का पुट' रहता है, जैसा पुराने खेमे के आलोचक भूल से कहा करते हैं। वह यथार्थ से अभिषिक्त है उसी में उसका उदय और अस्त है।"

'अमृत राय'[२] ने सहज कहानी का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है, "सहज कहानी से हमारा अभिप्राय किसी खास लेखन-शैली की कहानी से नहीं है-न हितोपदेश की सांसारिक उपदेश-मूलक कहानियों से और न जातक की आध्यात्मिक बोध-मूलक कहानियों से, और न उन कहानियों से जिनमें विशुद्ध कल्पना का रस है जैसे किस्सा अलिफलैला, ऐंडरसन की परी-कहानियाँ, मिथक और पुराण कथाएँ।.... और न ही आधुनिक गल्पविधा के उन महान कहानीकारों चेखोव और मोपासाँ और ओ... हेनरी से.... और न उससे हमारा अभिप्राय शरत्चंद्र की गाँव के परिवेश-वाली मार्मिक प्रेम-कथाओं से है, न रवीन्द्रनाथ की कविकल्पना की सघनतर अंतर्दृष्टि से संवलित सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कहानी से, जिसकी मानवी संवेदना का मूल उपादान कवि की सौन्दर्यदृष्टि है और मूल स्वर किसी अज्ञात कुहा-लोक के हठात् उद्घाटित हो जाने का पुलकित विस्मय।"

लेकिन इसका मतलब यह न निकालना चाहिए कि अमृत राय के सहज कहानी संबंधी प्रत्यय का संबंध प्रेमचंद की कहानियों से है। इस संशय का निराकरण अमृत राय'[३] ने स्वयं किया है, "सहज कहानी से हमारा अभिप्राय.... प्रेमचंद की कहानी से नहीं है, जिसका मूल स्वर सामाजिकता का है और जो अपनी उसी सामाजिक अंतर्दृष्टि से व्यक्ति को, परिवार को, सामान्य जीवन-व्यापार को देखती है और शायद इसीलिए हर पाठक को इतनी अधिक अपनी लगती है।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि सहज कहानी से अभिप्राय किसी खास लेखन शैली की कहानी से नहीं है। अमृत राय[४] के अनुसार, "सहज कहानी से हमारा अभिप्राय उस मूल कथा-रस से है जो कहानी की अपनी खास चीज है और जो बहुत सी 'नयी' कही जानेवाली कहानियों में एक सिरे से नहीं मिलता। किस्सा-सुनने की आदिम भूख में से ही कहानी का जन्म हुआ है और इस जन्मजात गुण या स्वभाव की रक्षा करके ही वह जीवित रह सकती है।"

अमृत राय[५] कथा रस की सहजता की चर्चा करते हुए कहते हैं, " कहानी पढ़ने वाले को इससे बहस नहीं कि आपने ' नयी कहानी' लिखी है या ' अ-कहानी' लिखी है। जो मन चाहे लिखिए, पूरी छूट है आपको पर वह कथा-रस दीजिए जो पाठक कहानी से पाना चाहता है, जिसको पाने का वह न सिर्फ आदी है, बल्कि जो उसकी घुट्टी में और उससे भी आगे बढ़कर उसके खमीर में दाखिल है।"

अमृत राय[६] का विचार है कि जिस कहानी में सहज कथा रस नहीं होता, वह कहानी लोकप्रिय नहीं हो सकती और न साहित्यिक प्रतिष्ठा ही पा सकती है। जरूरत इस बात की है कि कहानीकार ऐसी कहानी लिखे जिसमें व्यक्ति की अपनी सहजता हो, परंतु आज की कहानियों में ऊब और कुण्ठा अधिक है। इसका कारण यह है कि कहानीकार सहज होकर नहीं लिख पा रहा है। दबावों में पड़कर अपने जीवन को खुली आँखों से न देखकर रंगीन चश्में से देख रहा है, "सहज कहानी की चर्चा करके हम अपने लिखने वालों से यही कहना चाहते हैं कि अपने भीतर पैठकर अपने मन की सच्ची प्रेरणा से लिखिए, रचना अच्छी उतरी या नहीं उतरी, इसकी सनद के लिए अपने बाहर इस पंडे और उस पुरोहित की ओर नहीं अपने भीतर देखिए, अध्ययन-मनन से आप अपने भीतर स्वयं एक ऐसे आलोचक का निर्माण कर लेंगे, जो आपको बता देगा कि आपकी चीज जैसी बननी चाहिए थी, बनी या नहीं बनी। सहज कहानी की चर्चा से हमारा यही मतलब है कि हर आदमी मौलिक है, विशिष्ट है, उसने जो कुछ देखा है, सहा है, उसका अपना विशिष्ट मूल्य है। जिस भी रचना पर उसकी अपनी अनुभूति और संवेदना का स्वाक्षर है, वह साहित्य के लिए मूल्यवान है, अगर उसे अपने अनुरूप शिल्प भी मिल सका है।"

सर्वविदित है कि सन् १९६० ई० तक आते-आते 'नयी कहानी ' पुरानी पड़ गई और रूढ़िग्रस्त हो गई। नये कहानीकार अपने साथ नयी समस्याएँ लेकर आए, जिसके फलस्वरूप नयी कहानी पर प्रश्नसूचक चिन्ह लगने लगे। उन प्रश्नों का सही-सही उत्तर न दे सकने के कारण 'नयी कहानी' टूटने लगी और वह जिन्दगी के साथ समझौता करने और व्यक्तिगत सत्य प्रकट करने पर उतारू हो गई। उसकी संवेदनशीलता स्थिर होकर रूढ़ होने लगी। वह जिन्दगी के सत्य से कटने लगी। लेखक आत्मग्रही हो गए और उनकी रचनाओं में उनकी अपनी भावात्मक प्रतिक्रयाएँ विरूपता के साथ प्रकट होने लगीं। अपने दिए हुए फतवों के जाल में लेखक फँस गया।

ऐसे में सन् १९६८ ई० के आस-पास 'सहज कहानी' की चर्चा से पाठकों और नये कहानीकारों दोनों ही में एक नयी स्फूर्ति का संचार हुआ। अमृत राय[७] ने लिखा है, "हमें इस बात की बड़ी खुशी है कि हमारी सहज कहानी की चर्चा ने

कहानी-पाठकों और नये कहानीकारों दोनों ही में एक नयी स्फूर्ति का संचार किया है। स्वभावतः उनमें कुछ जिज्ञासाएँ भी हैं, शंकाएँ भी हैं। जैसे कि गोरखपुर के कोई शाक्य पार्थ रश्मि लिखते हैं, ' जिस सहज कहानी की बात आप चला रहे हैं क्या वह पुराण-कथाओं में नहीं है? या किस्सा तोता-मैना या ऐसी कई पुस्तकों में नहीं है? क्या हम सब उसको लक्ष्य (आधार) बनाकर आज के संदर्भ में लिखें?' या कि जैसे दिल्ली की आशारानी व्होरा लिखती हैं- कहानी को निरी कुंठाओं के दलदल से निकालकर सहजता के पथ पर लाने का यह प्रयास निश्चय ही स्तुत्य होगा, बशर्ते यह 'सहजता' भी एक आंदोलन न बन जाये और कथ्य की सहजता में कमजोर शिल्प को प्रश्रय न मिले।"

अमृत राय[८] इस बात से इनकार करते हैं कि उन्होंने 'सहज कहानी' नाम से कोई आंदोलन शुरू किया है, " और न हमने सहज कहानी के नाम से एक नया आंदोलन शुरू करने के ख्याल से यह चर्चा छेड़ी है। हमें तो बस अच्छी प्राणवान,सरस,सशक्त कहानी से मतलब है। हमारे लिए कहानी की एक ही कसौटी है- कि वह कुछ कहती है। कहने का अंदाज कुछ भी हो, उसकी सकत का इम्तहान इसी एक बात में है कि वह हमसे कुछ कहे, हमें हँसा सकें, रूला सके, जीवन के हमारे साक्षात्कार को और भी गहरा, और भी पैना कर सके, हमारे रागबोध को और भी समृद्ध कर सके, हमारी संवेदनाओं को और भी सूक्ष्म, और भी मर्मग्राही बना सके, समान्य जीवन के स्तर को एक और भी परिष्कृत मानसिकता दे सके, हमारे दिल-दिमाग को झँझोड़कर हमें फिर से अपना दिल टटोलने और फ़िर से सोचने के लिए मजबूर कर सके।"

पर इसका आशय यह न निकालना चाहिए कि अमृत राय कहानी में पुरानेपन के समर्थक हैं, या फिर अनुकरणमूलक नयेपन के। अमृत राय[९] ने स्वयं लिखा है, ".....जिसका मतलब यह नहीं है कि हम कहानी में पुराने के समर्थक हैं। नहीं हम भी नयेपन के हामी हैं, पर उस अंधे अनुकरणमूलक नयेपन के नहीं जो अपने दिक्काल से उखड़ा हुआ है, उस सहज नयेपन के जो हम जानें या न जानें, चाहें या न चाहें अनुदिन-अनुक्षण बदलते हुए जीवन और समाज का सहज धर्म है, जिसके पीछे हमारे देश-काल का साक्ष्य है और जो हमारी सहज मानसिकता का अंग बन सका है।" अमृत राय[१०] लेखकों को सलाह देते हैं कि मन की प्रेरणा से लिखी हुई रचना ही सहज होती है।

हालांकि अमृत राय ने सहजता और मन की प्रेरणा पर बार-बार जोर दिया है, फिर भी देश और काल से कटी हुई सहजता यथोचित नहीं है। यदि देश की परिस्थितियाँ जटिल हों तो उसकी प्रस्तुति जटिलतर बनाकर नहीं वरन् बारीकी से

सहज बनाकर की जानी चाहिए। अमृत राय[११] ने लिखा है, "हम यह मानते हैं कि आज दुनिया की, और सबसे ज्यादा खुद हमारे देश की, स्थिति अनेक रूपों में, अनेक स्तरों पर, अत्यंत जटिल है। इसलिए तो उसको और भी बारीकी से और भी गहराई से और भी समग्र रूप में देखने-समझने की जरूरत है। यह समझना कि उन जटिल स्थितियों को उसी तरह की कुछ जटिल रेखाओं या शब्दों का आकार दे देना अनुरूप कला या साहित्य की सृष्टि करना, बहुत बड़ी भूल है। जटिल को बोध और संवेदना के स्तर पर सहज करके समझने और ग्रहण करने की और फिर उसे सहज रूप में साहित्य में ढालने की प्रक्रिया निश्चय ही अत्यंत जटिल है पर सार्थक और मार्मिक साहित्य-सृष्टि उसके बिना नहीं हो सकती, और रचना का आस्वादन करते समय पाठक को आपकी जटिल प्रक्रिया से या उस जटिल कच्चे माल से प्रयोजन नहीं होता, उस सहज कहानी से होता है जो आपके भीतर ढलकर बाहर आयी है।"

सच्चाई यह है कि जिस कहानी में सहज कथा-रस नहीं है वह किसी दिन लोकप्रिय नहीं हो सकती और न साहित्य में स्थायी प्रतिष्ठा ही पा सकती है, क्योंकि अमृत राय[१२] के मतानुसार, "आदमी हर चीज से विद्रोह कर सकता है, हर चीज को छोड़ सकता है, अपने आंतरिक स्वभाव को नहीं। कहानी के सारे प्रयोग इसीलिए, हमारी समझ में, इस सहज कथा-रस के चौखट में किये जाने पर ही सार्थक हो सकते हैं।"

कहानी की घटती लोकप्रियता के लिए कहानीकारों को जिम्मेदार ठहराते हुए अमृतराय'[१३] लिखते हैं, "इसके लिए कुछ हद तक हम कहानीकार भी जिम्मेदार हैं, जो अच्छी तरह कहानी कह सकते हैं, जिनके पास ज़बान है, जिनकी कलम में जोर है, मगर जो अपने ढंग से अपने धरातल पर मन को बाँधने और छूनेवाली कहानी न लिखकर नयेपन के चक्कर में ऐसी बेजान और नीरस और गँठीली कहानियाँ लिखने में लगे हैं जिनको पढ़ना एक अच्छा-खासा प्रणायाम या साँसत है- और साँसत करवाने के लिए कोई कहानी नहीं पढ़ता।"

मार्के की बात यह है कि जब पढ़ने वाले 'नयी कहानियों' को पढ़ना पसन्द नहीं करते और भाग जाते हैं तो यह नया कहानीकार अपने मन को समझा लेता है कि इसका कारण पाठक की रुचिहीनता है, अभी हमारी क़हानी उसकी समझ में नहीं आ रही है क्योंकि वह नये ढंग की कहानी है और पाठक अब तक पुराने ढंग की कहानियाँ पढ़ता आया है। लेकिन नया कहानीकार यह नहीं सोचता कि आखिर यह कैसे होता है कि इन्हीं में से कुछ 'नयी कहानियाँ' पसंद भी की जाती हैं?

अमृत राय[१४] इस सोच को आत्म-छलना मानते हैं। उन्होंने लिखा है, " इससे बड़ी आत्म-छलना दूसरी नहीं हो सकती। जल्द से जल्द उससे मुक्ति पा लेना ही अच्छा है।

सच्चाई तो यह है कि सार्थक, रसोतीर्ण रचना को अपनी वकालत में पोथे रँगने की जरूरत नहीं पड़ती। यह कहना कि पाठक उसके लिए प्रस्तुत नहीं है या लंबा-लंबी टीकाओं के बिना समझ नहीं सकता, केवल दंभ है और आत्म-छलना। सच तो यह है कि कहानी जब हृदयग्राहिता की सहज कसौटी पर अनुतीर्ण होती है तभी अपने को मनवाने के लिए, उदासीन दर्शकों को भरमाने के लिए बहुरूपियों के जैसे नये-नये रूप भरने पड़ते हैं। कोई एक नाम की कहानी लिये चला आ रहा है, कोई दूसरे नाम की कहानी लिए चला आ रहा है, कोई अपने नये शिल्प का ढिंढोरा पीट रहा है और कोई कहानी की अपनी नयी भाषा का। अच्छी सार्थक कहानी की कुछ नयी कसौटियाँ ठोंक-पीटकर खड़ी की जाती हैं, कहानी-चर्चा के लिए एक नयी संध्या भाषा का आविष्कार किया जाता है, पश्चिम के किसी बड़े नाम के स्मरण के साथ आए दिन कहानी के संबंध में एक किसी नये वेद-मंत्र का पाठ किया जाता है। अमृत राय[१५] के शब्दों में," इसके दो ही नतीजे हो सकते थे- एक तो यह कि पाठकों की कहानी-रुचि ऐसी बदल जाती कि नयेपन और आधुनिकता के नाम पर उसी तरह की उलझी हुई, कुहरे में लिपटी हुई, एकरस और गँठीली कहानियाँ उनको पसन्द आने लगतीं, और दूसरा यह कि नये-नये लिखनेवालों की टोलियाँ बड़ी संख्या में ऐसी ही कहानियाँ लिखने की ओर प्रवृत्त होतीं।"

लेकिन दोनों ही स्तरों पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि पाठक खूब सजग हैं और अब भी पहले ही की तरह, प्राणवान और मर्मस्पर्शी कहानियाँ पसंद करते हैं और नये कहानीकारों की विशाल संख्या संसार के श्रेष्ठतम कथाकारों की परंपरा में अब भी वैसी ही जीवन धर्मी समाजधर्मी कहानियाँ लिख रही है। भविष्य उन्हीं सहज लिखनेवालों का है। नक्कालों का कोई भविष्य नहीं है क्योंकि वे आज एक की नकल करते हैं, कल फैशन बदलने पर किसी दूसरे की नकल करेंगे, और इसी तरह नकल करते-करते चुक जायेंगे, चुक गये हैं।

यदि रचनाकार के मन में यह ग्रंथि पैदा हो जाती है कि कहीं मैं ऐसा कुछ तो नहीं लिख रहा हूँ जो बिलकुल अन-आधुनिक है। कहीं मेरा शिल्प पुरातनपंथी तो नहीं है। लोग मेरी कहानी को बासी-तिवासी कहकर घूर पर तो नहीं फेंक देंगे। नयी हवा को अपने फेफड़े में भर लूँ, नये भावबोध को पूरी तरह अपना लूँ, सार्त्र-कामू-काफ्का-किर्केगार्द को पढ़ लूँ, नये शिल्प को करायत कर लूँ, लंदन-पैरिस-न्यूयार्क-मेक्सिको-टोकियो-ग्रिनिच विलेज में इस समय क्या लिखा जा रहा है

इसको देख-समझ लूँ-तो अमृत राय[१६] को शब्दों में, "यहीं से अ-मौलिक, अ-प्रमाणिक, अ-सहज, नितान्त अनुकरणमूलक लेखन की शुरूआत होती है और रचनाकार का अपना सहज बोध और अपनी सहज संवेदनाएँ मुमूर्ष होने लगती हैं क्योंकि उसकी आँखें अपने भीतर, अपने आस-पास, अपने देश-काल को न देखकर उन दूर-दराज'आधुनिक भाव बोध के केन्द्रों पर लगी रहती हैं।"

लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि नया से नया जो कुछ लिखा जा रहा है, कविता-कहानी-नाटक, उसको पढ़ा न जाय। अमृत राय मनाही नहीं करते। अमृत राय[१७] पढ़ने की वकालत करते हैं लेकिन सचेत करते हैं, "पढ़ा जाय और जरूर पढ़ा जाय लेकिन इतने समर्पित भाव से न पढ़ा जाय कि अपनी प्रतीति, अपने बोध, अपने विवेक, अपने देश-काल की अपनी समझ को छुट्टी दे दी जाए या सस्पेंड कर दिया जाए। यह न तो आधुनिक बनने का रास्ता है और न श्रेष्ठ साहित्य-सृजन का रास्ता है।"

सहज कहानी संबंधी इतनी बातें करने के बाद भी अमृत राय[१८] बार-बार यह दुहराते हैं कि सहज कहानी कोई आंदोलन नहीं है-"साहित्य में आंदोलनों की आजकल यों ही इतनी भरमार है कि जीना मुहाल है। सबेरे अखबार खोलते ही जैसे कहीं न कहीं गाड़ी के लड़ने या उलटने की खबर जरूर मिलती है वैसे ही हर लघु पत्रिका खोलते ही एक नये आंदोलन का झंडा फरफराता दिखायी पड़ता है। आंदोलनकारियों की उस भीड़ में अपना एक नया झंडा लेकर जा खड़े होने की हमारी कोई अभिलाषा नहीं हैं।"

तरह-तरह की शंकाओं और चर्चाओं से घबराकर अमृत राय ने सहज कहानी संबंधी प्रत्यय को छोड़ देने का मन बनाया था, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है- "एक बार हमारे जी में यह भी आया कि सहज कहानी' की चर्चा को अब यही समाप्त कर दें, क्यों किसी को कुछ भी कहने का मौका दिया जाए। लेकिन हमने फिर सोचा तो समझ में आया कि दो-चार लोगों के अप्रचार से डरकर एक अच्छी भली चर्चा को, जिसे आम पाठक और दल-मुक्त नये कहानीकार इतना ज्यादा पसंद कर रहे हैं, समाप्त कर देना अन्याय होगा- हम कोई मर्यादा पुरूषोत्तम राम तो हैं नहीं जिन्होंने एक धोबी के कुत्सित प्रचार से डरकर सीता जी को जंगल में पटील दिया! और फिर इसी की क्या गारंटी है कि ऐसा करने से उन लोगों की जबानें बंद हो जायेंगी? दोषारोपण करने वाले का मुँह आज तक कोई नहीं बंद कर सका। ऐसे में यही ठीक है कि अपनी बात बेधड़क कही जाय, जिसको जहाँ चोट लगेगी वह आप अपनी चोट जैसे चाहे सहला लेगा! पहलू बचाकर बात करने वाला सारी उम्र पल्लू बचाते-बचाते खुद भी बेपेंदी का लोटा हो जाता है।"

जब अमृत राय यह मानते हैं कि 'सहज कहानी ' कोई आंदोलन नहीं है, कोई नारा नहीं है, तब इस शीर्षक के अंतर्गत बातें करने की आवश्यकता ही क्या है? इसका जवाब अमृत राय[२०] देते हैं, "हमने इस शीर्षक के अन्तर्गत अपनी बात कहना इसलिए पसंद किया कि कहानी के बारे में, जीवन और समाज के बारे में, हम जितनी सब बातें समेटकर कहना चाहते हैं उनके लिए इससे अच्छा दूसरा कोई शीर्षक हमें नहीं सूझा।"

इस प्रकार उन्होंनें नई कहानी' की जड़ता को खत्म करने के लिए अभियान छेड़ा और वही अभियान'सहज कहानी 'संबंधी प्रत्यय के रूप में प्रस्फुटित हुआ। ऐसा करने के पीछे अमृतराय की वह मूल मान्यता है, जिसके तहत वह प्रगतिशीलता को जड़ता का विलोम मानते हैं। जहाँ उन्होंने 'नई कहानी ' की बासी कढ़ी में उबाल लाने की कोशिश की वहीं उन्होंने हर स्थान पर हर किस्म के अन्याय का प्रबल प्रतिकार किया।

अमृत राय[२१] का मानना है कि कहानीकार के लिए आज कथावस्तु का अभाव नहीं है। उसे हर जगह कथा-सामग्री प्राप्त हो सकती है, पर जरूरत है उसे सही ढंग से प्रस्तुत करने की। आजकल मजदूर, किसान, गरीबी आदि समस्याओं पर साहित्य तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, लेकिन संवेदना की गहराई और उपेक्षित वर्ग की भलाई उसमें दिखायी नहीं देती। आज के लेखक बिना समस्याओं को देखे, बिना अपने आपको उस स्थिति में रखे, बिना गरीबों-मजदूरों के साथ समय बिताये ही दूर से कल्पना के द्वारा जब यथार्थ चित्र खींचना चाहते हैं तो वह साहित्य काल्पनिक ही रह जाता है, उसमें अनुभूति की सच्चाई नाम मात्र की भी नहीं रहती, केवल शब्दों की सजावट ही हो पाती हैं। कोई प्रगतिशसील समाजवादी लेखक अपनी कला के प्रति ईमानदार बनना चाहता है तो उसे शोषित वर्ग का बनना होगा। वर्ना उसका समाजवाद पर, मजदूर पर, किसी के शोषण पर कलम चलाना अनाधिकार चेष्टा छोड़ और कुछ नहीं होगा।"

कथाकार जितना अपने से बाहर दुनिया को देखता है,उससे कहीं ज्यादा अपने ही मन में, स्वयं अपने भीतर डूबकर देखता है, और बाहर भी जो देखता है उसकी भी अंतिम कसौटी अपने ही मन को बनाता है, अपनी ही अनुभूति और संवेदना को। जितने ही गहरे वह अपने भीतर पैठ पाता है उतनी ही सहज अंतर्दृष्टि उसे मनुष्य मात्र के चित्त में मिलती है, और फिर जीवन के सार्वभौम सत्य को, अपने उस कोण से, उतने ही अधिक परिष्कृत, सर्वग्राह्य और मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करना उसके लिए संभव हो पाता है। बात सुनने में कुछ असंगत-सी लग सकती है, पर वह केवल विरोधाभास है। स्वानुभूति और परानुभूति में कोई विरोध नहीं है।

वस्ततः दो अलग संदर्भों में वह एक ही चीज हैं।

अमृत राय[२२] के शब्दों में इसका कारण यह है, 'कथा-रस सबसे पहले कथाकार की कथा-दृष्टि में होता है। उसने किसी चीज को किस रूप में देखा है, और किस तरह उसका संयोजन किया है। घटना आप में कहानी नहीं है। वस्तुतः घटना कहानी की घटना ही नहीं है जब तक कहानीकार अपने रचना-शिल्प से उसको अपनी कहानी के भीतर सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित नहीं कर देता। और इसके लिए जरूरी है कि सबसे पहले उसका रचनाकर मन उस रूप में उसको देखे, पकड़े। वह देखना ही रस के व्यापकतम अर्थ में, सहज संवेदना के अर्थ में, सरस देखना है।

हालांकि अमृत राय[२३] मानते हैं "तथाकथित नवलेखन में संवेदना भी संदेहास्पद हो गयी है, क्योंकि आधुनिक होने का अर्थ समग्र भाव से अनास्थावान होना मान लिया गया है और आस्था, कैसी भी आस्था, बहुत पुरानी और दकियानूस चीज हो गयी है। पर हमारा विश्वास है कि और चाहे जितनी अनास्था हो, लेखक के पास जब तक एक अंतिम आस्था अपनी मानवीय संवेदना में नहीं है तब तक कोई सार्थक सृष्टि नहीं हो सकती।"

ढेरों नयी कहानियाँ, जो यहाँ-वहाँ छपती रही हैं और छपती रहती हैं, सब में वही एक ही ढंग की यौन कुंठा, ऊब,घुटन, जीवन की एकांत व्यर्थता का भाव और एक-सा ही उसका चित्रण। कहानीकार की अपनी अनुभूति का स्वाक्षर उसमें कहाँ है? क्यों सब एक दूसरे की आवृत्ति और पुनरावृत्ति मालूम होती हैं? अमृत राय[२४] के अनुसार "इसका शायद पहला और सबसे बड़ा कारण है कि लेखक सहज होकर नहीं लिख रहा है। अपनी सहज अनुभूति को सहज ढंग से कह पाना ही साहित्य की वह कीमियागरी है जिससे मुर्दा शब्द जी उठता है।"

लेकिन यह सहज स्थिति समाप्त हो जाती है जब हम बाह्य दबाओं में पड़कर जीवन को अपनी खुली आँखों न देखकर रंगीन चश्मों के पीछे से देखने लगते हैं, या जीवन को उसकी समग्रता में न देखकर उसके किसी खंड को पकड़कर बैठ जाते हैं। अमृत राय[२५] के अनुसार,"जहाँ लेखक को लिखते समय यह चिंता सताने लगे कि उसकी रचना आधुनिकता या आवाँ गार्द' के मानदंड पर खरी उतरती है या नहीं, उसने अगर कोई 'पॉजिटिव चरित्र उठा लिया या कोई ऐसा सार्थक जीवन-अनुभव जिसमें मनुष्य का कदर्य-कुत्सित रूप उभरकर उसका अच्छा रूप उभरता हो तो उसकी टोली के लोग उसे किस रूप में ग्रहण करेंगे, कहीं उसे दकियानूस या पुरातनपंथी कन्वेंशनल तो नहीं कहने लगेंगे, वहीं वह अपने ही को झुठलाना शुरू करता है और सहज संवेदना के स्थान पर आरोपित बौद्धिक लेखक

की, मौलिक सर्जनात्मक लेखन के स्थान पर परिपाटीग्रस्त अनुकरणमूलक छद्म लेखन की शुरूआत होती है और वही साहित्यकार की अकाल मृत्यु का राजमार्ग है।''

अमृत राय की मान्यता है कि स्वानुभूति और परानुभूति में कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः दो अलग-संदर्भों में वह एक ही चीज है। क्योंकि समस्त चराचर सृष्टि एक है, उसमें सब एक दूसरे से जुड़ें हैं, और मनुष्य मात्र का चित्त एक है। पिंड में ब्रहा को देखना भी यही चीज है। यही सहज स्थिति है पर इस सहज को पाना सरल नहीं है। उसके लिए साधना अपेक्षित है। साहित्यकार की साधना भी ऐसी ही एक साधना है। वाह्य संदर्भों में मनुष्य का जो चित्त शतधा खंडित है उसके लिए फिर वह मिलन भूमि प्रस्तुत करना जहाँ सब एक हैं। पर इसके लिए सबसे पहले साहित्यकार के मन को ऐसा एक संगम-तीर्थ बनना पड़ेगा। अपना मानस-मुकुर स्वच्छ न हो तो बाहर का प्रतिबिंब वह कैसे ग्रहण करेगा। उसके लिए सहज भाव से अपनी संवेदनाओं के रूप में उत्तर देना जरूरी है।

अमृत राय[२६] मानते हैं, ''सहज रचनाकर वह है जो सहज मुक्त भाव से जीवन के मैदानों और गलियों में विचरता है और वैसी ही उन्मुक्त संवेदनाओं से जीवन के प्रति रिऐक्ट करके सहज भाव से लिखता है, जहाँ उसकी एक प्रतिश्रुति अपने रचनाकर मानव के प्रति और दूसरी रचना-वस्तु की आत्मा के प्रति होती है। तीसरी चीज से मतलब नहीं क्योंकि उसे विश्वास रहता है कि अगर ये दोनों चीजें सध गयीं तो रचना अच्छी उतरेगी ही और उसका रसज्ञ पाठक भी मिलेगा ही।''

अमृतराय को शिकायत है कि इस देश के कुछ युवा लेखक मित्रों ने जो अर्थ की दृष्टि से भले निम्न मध्य वर्ग के हों पर मूल्यों के क्षेत्र मे इस सड़े-गले महाजनी समाज का झंडा उठाये घूम रहे हैं। पतनशील समाज के पतनशील जीवन-मूल्य। स्वयं उन देशों में इन पतनशील जीवन-मूल्यों के विरोध में संघर्ष करने वाले तत्व काम कर रहे हैं।

अमृत राय[२७] के अनुसार यह सब कुछ हमारी आँखों के सामने हो रहा है। इसीलिए जरूरी है कि बातों को उनके उचित परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाय और समझा जाय कि कौन बात कहाँ से उठ रही है और उसकी सामाजिक भूमिका क्या है। जिसका यह मतलब नहीं है कि सत्य पर पर्दा डाला जाय। लेकिन सत्य कभी वैसा एकांगी नहीं होता जैसा बहुत से नवलेखन में दिखायी पड़ता है। जटिल मनः स्थिति का सत्य अपने निरूपण के लिए वैसी ही गहरी, अन्तर्भेदिनी सश्लिष्ट दृष्टि की भी माँग करता है।''

यही हाल टेरर या संत्रास-बोध का है। लेकिन अमृत राय[२८] लिखते

हैं,"संत्रास का कोई एक रूप नहीं है। कहीं कोई संत्रास है और कहीं कोई। कहीं भरे पेट का संत्रास है और कहीं खाली पेट का। आत्महत्याएँ स्वीडेन में भी खूब होती हैं और हिन्दुस्तान में भी खूब होती हैं पर हिन्दुस्तान में ज्यादातर जीवन की विषम स्थितियों के कारण होती हैं और स्वीडेन में अधिक से अधिक सुख-सुविधाओं के बावजूद होती हैं और समझने की जरूरत है कि क्यों होती हैं। लेकिन और जो भी बात हो या न हो,इतना तो तय है कि दोनों एक ही चीज नहीं हैं और चीजों को उनके संदर्भ से काटकर देखने की प्रवृत्ति केवल विफलता और भटकाव की ओर ले जा सकती, जीवन के स्तर पर भी और साहित्य के स्तर पर भी।"

अंततः यह कहना गैरवाजिब नहीं होगा कि आज की कहानी को दिग्भ्रमित होने की स्थिति से बचाने में अमृत राय का बहुत बड़ा योगदान है, वह भी उस समय जब कहानी अनास्था, कुँठा, संत्रास, अजनबीपन के घेरे में दम तोड़ने लगी थी। सचमुच अमृत राय द्वारा प्रतिपादित एवं परवर्ती कृतित्व में सम्पादित सहजता के लक्षण ने कहानीपन को पुनरूज्जीवित किया।

❑

हिन्दी परिषद पुस्तकालय
हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद- २११००२

संदर्भ सूची-

१. अमृतराय, 'नयी समीक्षा', हंस प्रकाशन, पृ० ४३। २. अमृतराय, 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा', हंस प्रकाशन, पृ० ९३। ३. वही। ४. वही पृ० ९३। ५. वही पृ० ९४। ६. वही पृ० ११०। ७. वही पृ० १००। ८. वही पृ० १०१। ९.वही। १०. वही पृ० ११०। ११. वही पृ० १११। १२. वही पृ० ९५। १३. वही। १४. वही पृ० ९५। १५. वही पृ० १०२। १६. वही पृ० १०९-११०। १७. वही। १८. वही पृ० १०६। १९. वही। २०. वही। २१. वही पृ० ९७। २२. वही पृ० ९६। २३. वही पृ० ९१। २४. वही पृ० ९७। २५. वही पृ० ९८। २६. वही पृ० १०५। २७. वही पृ० ११५। २८. वही।

प्रकृति, मानव और विज्ञान

●●

डॉ० संजय कुमार सिंह

प्राचीन भारतीय समाज में जो ज्ञान और वैज्ञानिक शोध मानवता के लिये उपयोगी होता था, उसका धार्मिक रूपान्तरण कर दिया जाता था। मानव और प्रकृति का संघर्ष सदियों से चला आ रहा है और इस संघर्ष के दौरान प्राचीन मानव ने यह पाया कि जीवन को सुखी और खुशहाल बनाकर जीना अत्यन्त आवश्यक है। यह सर्वविदित है कि जब-जब मनुष्य ने प्रकृति की मूल भावना को छेड़ने की कोशिश की, प्रकृति ने अपना स्वरूप बदलकर उसे दंडित करने की कोशिश की। अतएव, प्राचीन पूर्वजों ने विकास के क्रम में अपने शोधात्मक ज्ञान को धर्म के माध्यम से जनसामान्य तक पहुँचाने का प्रयास किया। उनका उत्स आज भी ग्रामीण जीवन और सामाजिक लोकाचार में व्यवहारतः परिलक्षित होता है। प्राचीन धर्म, त्यौहार, उत्सव आदि वैज्ञानिक ज्ञान को जनसामान्य तक पहुँचाने का एक सशक्त व्यावहारिक माध्यम था। इस बात की पुष्टि प्राचीन साहित्य में वर्णित तथ्यों एवं लोकजीवन में प्रचलित सभ्यताओं से हो जाती है। चूंकि, जनसामान्य की दृष्टि इतनी पैनी एवं गहरी नहीं होती कि प्रकृति के खेल को वैज्ञानिक तरीके से समझ सकें, अतएव इसे मान्य बनाने के लिये इसका धार्मिक रूपान्तरण कर दिया जाता था।

वृक्ष पर्यावरण को संतुलित रखने का एक सशक्त माध्यम होता है। इस बात को हमारे प्राचीन विद्वानों ने बड़ी बारीकी से समझा था और प्रकृति तथा मानव के मध्य परस्पर मैत्रीय संबंध स्थापित करने का प्रयास किया था। मनुस्मृति (१-४९) में वृक्षों को

तमोगुण प्रधान कहा गया है। चूंकि इनमें चेतना होती है और ये भी सुख-दुख का अनुभव करते हैं। अतः भारतीयों ने इन्हें देवतुल्य माना है। उन्होनें प्रकृति को मानव का शत्रु न बताकर मित्र और सहचरी सिद्ध करने का प्रयास किया है। जब-जब मनुष्य ने प्रकृति को शत्रु मानकर उससे संघर्ष करने का प्रयास किया, परास्त हुआ। किन्तु, जब उसे पूज्य माना, उस पर विश्वास किया और अपने हितसाधन के साथ इसके संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिये तत्पर रहा, प्रकृति सदैव उसके साथ खड़ी रही। विभिन्न पशु-पक्षी, वृक्ष एवं वनस्पतियाँ तथा जल आदि के प्रति धार्मिक विश्वास हितसाधन के साथ ही साथ उनके संरक्षण एवं संवर्द्धन से जुड़ी रही। अधतन भोगवादी चिंतन प्रकृति को अपना शत्रु समझकर उसके विनाश को ही अपनी उपलब्धि मान बैठी है। इस विचार से कोई भी असहमत नहीं होगा कि वह ज्ञान वह विज्ञान मानव की रक्षा करने में असफल सिद्ध होगा, जो प्रकृति को देखकर इसे धोखा देकर, उसके साथ शत्रुवत व्यवहार कर विकसित हुआ है। जबकि आज पूरा विश्व इसी क्षेत्र में आगे बढ़ रहा है और अपने वैज्ञानिक शोध को जिसका प्रकृति से कोई सामंजस्य नहीं है, स्थापित करने का प्रयास कर रहा है। अतएव, मानव जीवन दुखदायी होना स्वीभाविक है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इस सच का पूर्वाभास पहले ही कर लिया था और इसलिये इसका धार्मिक रूपान्तरण कर उसको संरक्षित एवं संवर्द्धित करने का प्रयास किया, मानव को प्रकृति से जोड़ा। दोनों एक दूसरे के सहचरी बने। जातक साहित्य में वर्णित है कि बोधिसत्व ने ३३ बार वृक्ष के रूप में जन्म लिया था। ऐतरेय ब्राहमण यह सिद्ध करता है कि मानव की भाँति विभिन्न वनस्पतियों एवं वृक्षों में भी जीव-तत्व होता है। मनीषि आरूणि उद्दालक का कथन है कि बीज में पेड़ की आत्मा रहती है। रामायण में अयोध्या काण्ड में सीता को हाथ जोड़कर वटवृक्ष की प्रार्थना करते हुये वर्णित किया गया है। इससे वटवृक्ष की महिमा प्रदर्शित होती है। गीता में कृष्ण ने कहा है कि वृक्षों में मैं पीपल हूँ (१०वें अध्याय के २६वें श्लोक) अर्थात पीपल वृक्ष मेरा प्रतिनिधित्व करता है। पीपल और शम्मी ऐसे वृक्ष हैं जो वातावरण एवं जलवायु की शुचिता को बनाये रखने में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये दोनों ऐसे वृक्ष हैं जो सर्वाधिक आक्सीजन विसर्जित कर पर्यावरण को प्रदूषण से बचाते हैं। पीपल वृक्ष के नीचे ध्यान लगाना सर्वोत्तम माना गया है। आचार्य रजनीश के शब्दों में- जिस तत्त्व के कारण मस्तिष्क में बोध एवं चेतना शक्ति का निर्माण होता है या जिसके आभाव में मानव बेहोश हो जाता है, उस रासायनिक तत्त्व की सर्वाधिक प्राप्ति पीपल वृक्ष से होती है। मनुष्य को अपनी बुद्धि और चेतना को प्रकट करने के लिये जिस रसायनिक तत्त्व की आवश्यकता पड़ती है, उसकी सर्वाधिक उपलब्धता

पीपल वृक्ष में है। इसके दूध में ऐसा हारमोन अधिक मात्रा में पाया जाता है जो पिट्यूटरी ग्लैण्ड से स्रावित होने वाले हारमोनों में से एक है। आज भी हिन्दू जनमानस में पीपल वृक्ष को काटना धार्मिक दृष्टि से अशुभ माना जाता है। इसके पीछे इसका वैज्ञानिक महत्त्व है। साथ ही संरक्षण एवं संवर्द्धन उद्देश्य। काल्विन विल्सन ने अपने शोध के दौरान पाया कि जिस रासायनिक प्रक्रिया से मनुष्य की चेतना जागृत होती है, वह पीपल, वट, पाकड़, बरगद आदि वृक्षों में बहुतायत पाया जाता है। नीम की महत्ता महाभारत में वर्णित है जिसके अनुसार शरीर में प्रतिरोधी क्षमता विकसित करने वाला सर्वाधिक तत्व नीम में पाया जाता है। इसी प्रकार विभिन्न वनस्पतियों के संरक्षण एवं संवर्द्धन के पीछे इसका वैज्ञानिक आधार रहा है, जिसे धार्मिक आवरण में लपेटा गया था।

यह वैज्ञानिक सच है कि वृक्ष इंसान से अधिक संचेतन होते हैं क्योंकि इंसान की दृष्टि लाखों तरंगों में से एक को, जो लाल व बैंगनी के बीच की होती है, पकड़ पाती है। किन्तु पेड़-पौधे दिखायी न देने वाली प्रकाश के तरंगों को तथा अल्ट्रावायलेट एवं वायरलेस इन्फ्रारेड तरंगों को भी देख लेने में समर्थ होती है। शोध में पाया गया है कि छितवन वृक्ष शिक्षण-संस्थाओं के आस-पास ही विकसित होती है। अन्य स्थानों पर जहाँ विद्या की उपेक्षा की जाती है, यह न तो विकसित होती है, बल्कि मुरझाकर सूख जाती है। इसका वानस्पतिक नाम 'स्कॉलरिस' है।

वायुमंडल में स्थित जलवाष्प शीतलता पाकर संघनित होती है और बूंद बनकर वर्षा का रूप धारण करती है। जिन स्थानों पर वृक्ष अधिक होते हैं, वहाँ का वातावरण अन्य स्थानों की तुलना में शीतलता लिये होते हैं। इसीलिये वृक्षबाहुल्य क्षेत्रों में वर्षा की अधिकता रहती है। ये वृक्ष वर्षा के जल को बड़ी सावधानी से जमीन में प्रवेश कराकर पूरे वर्ष के लिये सुरक्षित कर लेते हैं। किन्तु, वृक्ष न होने पर वर्षा का जल तीव्रगति से बहकर नदी-नालों के द्वारा समुद्र में चला जाता है और धरती अवशोषित नहीं कर पाती। अतएव, ऐसे स्थानों पर भूगर्भीय जल का आभाव बना रहता है।

शोध के दौरान अनुभव में यह पाया गया कि नीलगिरि में वनीकरण के उपरान्त वर्षा की मात्रा में वृद्धि होती चली गयी। ५० वर्ष के उपरान्त प्रत्येक ४ वर्ष पर वर्षा ऋतु के अतिरिक्त ३७४ स्थानों पर ४८१ दिन वर्षा अधिक होने लगी। राजस्थान के थार क्षेत्रों में वृक्षों की अंधाधुंध कटाई के कारण न केवल वहाँ जलीय संकट उत्पन्न हो गया, बल्कि वहाँ की जलवायु शुष्क होती गयी और भूमि की उर्वरक क्षमता घटती चली गयी।

यह अनुभूत सच है कि छोटा नागपुर के पठारी क्षेत्रों में वर्षा ऋतु के बाद

भी पूरे वर्ष भर थोड़े-थोड़े दिनों के अन्तराल पर हल्की वर्षा होती रहती थी, जो चाय की खेती के लिये बहुत उपयोगी था। कालान्तर में जब चाय की फसल को बढ़ाने के लिये जंगलों को काटकर उन स्थानों पर चाय के बाग लगा दिये गये। परिणाम जंगल कट जाने के कारण पूरे वर्ष भर होने वाली फूटकर वर्षा कम हो गयी और क्रमशः चाय के बागान सूखते चले गये।

मौसम विभाग द्वारा प्रकाशित एक रिर्पोट के अनुसार अंडमान निकोबार में हरे-भरे क्षेत्रों की तुलना में वनविहीन क्षेत्रों में वर्षा कम होती है। केरल प्रान्त में निरन्तर वर्षा की मात्रा में गिरावट आती जा रही है। यह गिरावट उन क्षेत्रों में अधिक दिखलायी पड़ रही है, जो वनविहीन होते जा रहे हैं।

उल्लेख के क्रम में इस बात का वर्णन करना प्रासंगिक होगा कि वर्षा होने पर एक घंटे में उसका जल भूमि निम्न प्रकार से अवशोषित करती है-

कृषि भूमि	१.० से.मी.
घास मैदान	२.० से.मी.
जल वन	१६.८४ से.मी.
मिश्रित वन	१७.०० से.मी.

इस सारिणी से स्पष्ट है कि वृक्षारोपण बड़े एवं विशाल स्वरुप धारण करने वाले वृक्षों का होना चाहिये, क्योंकि इनकी जड़ें अधिक गहरी होने के कारण जल का अवशोषण अधिक होता हे और वह नीचे तक जाती है। पश्चिम और मध्य उत्तर प्रदेश में विगत १० वर्षों में गिरे जल स्तर और वनों के घनत्व की तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकला कि प्रदेश के वे क्षेत्र जहाँ घने जंगल हैं, वहाँ स्थित १० वर्षों में जल का स्तर मात्र ५० से.मी. या उससे कम नीचे गया है जबकि वे क्षेत्र जहाँ जंगल नहीं हैं, जल का स्तर १० से १५ मीटर नीचे चला गया है। एक अध्ययन में यह पाया गया कि वृक्ष से ढकी हुई भूमि में खुली भूमि की तुलना में २५ इंच जल प्रतिवर्ष ज्यादा मिलता है।

जंगलों के अंधाधुंध कटाई के कारण आज हिमालय क्षेत्र की वर्षा का ७०-७५ प्रतिशत जल तीव्रगति से बहकर नदियों में आ जाता है, जो मैदानी क्षेत्रों में बाढ़ का कारण बनता है। वर्षा का जल मात्र १५ प्रतिशत ही जमीन में अवशोषित हो पाता है। जंगलों का आवरण घटने से विगत ५ वर्षों में वहाँ के जल स्रोतों में २५ प्रतिशत तथा विगत ५० वर्षों में ७५ प्रतिशत की कमी हुई है।

भूटान जो एक छोटा स्वतंत्र देश है, के घने जंगल सुरक्षित होने के कारण वहाँ का जल प्रवाह ७:१ है। स्पष्ट है कि वहाँ के घने जंगल वर्षा के जल एवं नदियों में सुरक्षित जल को अवशोषित कर अनावश्यक जल प्रवाह को रोकता है।

शीत प्रधान देशों में वृक्ष लगाकर ए.सी. पर होने वाले विद्युत व्यय को कम किया जा रहा है। ऐसा करने से ४ से २२ प्रतिशत तक विद्युत की बचत होती है। पर्यावरणविदों के अनुसार, एक वृक्ष १० से १५ ए.सी. के बराबर कार्य करता है। यह प्राकृतिक उपचार प्रत्येक राष्ट्र को प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित कर जीने के लिये प्रेरित करेगा ओर अनावश्यक प्रकृति को प्रदूषित करने से रोकेगा।

तमिलनाडु के नीलगिरी और पलनी पहाड़ों पर स्थित खुले घास के मैदानों का तापक्रम शीत ऋतु में रात्रि के समय -१०°से. तक गिर जाता है। जबकि वहीं वृक्षों से ढके क्षेत्रों में सदैव शून्य डिग्री सेल्सियस से ऊपर रहता है। शीत ऋतु में वृक्ष के समीप की जलवायु वृक्षविहीन क्षेत्रों की तुलना में अधिक गर्म रहती है। हिन्दू संस्कृति में जिन वृक्षों को धार्मिक महत्त्व प्राप्त है वह शीत ऋतु में अधिक सक्रिय रहते हैं और कभी भी निष्क्रिय नहीं होते। वृक्षों का धार्मिक महत्त्व प्राप्त होना, प्राचीन भारतीय विद्वानों की दूरदर्शिता का परिचायक है। जिन क्षेत्रों में वृक्ष नहीं होते वहाँ गर्मी का तापमान सामान्य से अधिक रहता है, जबकि सघन वृक्ष वाले क्षेत्रों में यह स्थिति नहीं बनती। वहाँ का तापक्रम सामान्य से कम रहता है। शोध के दोरान फैंक फर्ट में यह देखने को मिला है कि ५० से १०० मीटर वृक्षों की पट्टी वायु के तापक्रम को ३.५°से. तक कम कर देती है और वायु की सापेक्ष आर्द्रता को ५ प्रतिशत तक बढ़ा देती है। स्पष्ट है कि प्रत्येक घर के पास एक वृक्ष होने से ए.सी. पर होने वाले विद्युत व्यय में ग्रीष्म ऋतु में १०से१५ प्रतिशत तथा शीत ऋतु में ४से२२ प्रतिशत प्रत्येक घर के विद्युत व्यय को रोका जा सकता है। विज्ञान विकास के लिये होना चाहिये, प्रकृति के अभिशाप के लिये नहीं क्योंकि प्रकृति का अभिशाप मानव के लिये अभिशाप बन जायेगा औरन मानव विज्ञान के रहते हुये भी उस अभिशप्त को भोगने के लिये बाध्य होगा।

आन्ध्र प्रदेश स्थित रामागुंडम एन.टी.पी.सी. सुपर थर्मल पावल के प्रदूषण के कारण ग्रीष्म काल में वहाँ का तापक्रम ५०°से. तक पहुँच जाता है। राज्य सरकार को जब इस बात का एहसास हुआ, तो पिछले एक दशक में विभिन्न प्रजातियों के लगभग ६ लाख पौधों का रोपण हुआ। वृक्षारोपण के उपरान्त इस क्षेत्र में ५° सेन्टीग्रेट तापमान में गिरावट आ गयी। इस क्षेत्र में वर्षा भी औसत से अधिक होने लगी है और पूर्व की अपेक्षा १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

आक्सीजन गैस को प्राणवायु कहा जाता है। इसकी अधिकता मनुष्य में स्फूर्ति पैदा कर उसे स्वस्थ रखती है। जीवाष्म ईंधन जलाये जाने तथा जंगलों के कटने के कारण इस शताब्दी में वायुमंडल में कार्बनडाई आक्साइड की मात्रा में बेतहासा वृद्धि हुई है, जो पर्यावरण संतुलन को बिगाड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा

कर रही है। वृक्षों के फेफड़ों में स्टोमेटा और लेन्टी सेल्स विद्यमान होते हैं, जो उसकी पत्तियों, तना ओर शाखाओं में करोड़ों की संख्या में फैले रहते हैं। इन फेफड़ों की सतहें गीली होने के कारण उनमें वायु के जहरीले रसायन घुस जाते हैं और वे पौधों द्वारा अवशोषित हुये बिना नहीं बच पाते। वनों के न रहने पर वायु की जहरीली गैस अवशोषित करने का कार्य जीव-जन्तु एवं मानव के फेफड़े तथा उनकी नासिका करती है। नासिका की गीली सतह पर धुलने के उपरान्त वह अपना विषाक्त प्रभाव डालकर विभिन्न व्याधियों को जन्म देता है। स्पष्ट है कि वायु का विषाक्त प्रभाव पेड़-पौधों द्वारा अवशोषित होता है और प्रकृति को वायु प्रदूषण से मुक्त करने के लिये सघन वृक्षारोपण ही एकमात्र प्रभावी सुरक्षा कवच है।

वायुमंडल की धूल कई हजार कि.मी. तक की यात्रा करने में सक्षम होती है। सहारा रेगिस्तान से चली वायु के द्वारा विभिन्न मिश्रितकण भारत तक पहुँचते हैं। यह सच है कि यदि बीच में जंगल होते तो ऐसी स्थिति नहीं बनती। आज दिल्ली और बाम्बे जैसे शहरों में टी.बी. और अस्थमा की व्याधि से सर्वाधिक लोग मरते हैं। एक सर्वे में यह पाया गया कि वायु प्रदूषण की ४० प्रतिशत समस्यायें मात्र धूल-कण के कारण हैं। वृक्षों की पत्तियाँ वायु कण में मिश्रित कण-कण की ८५ प्रतिशत मात्रा कम कर देता है। ३० मीटर चौड़ी पट्टी वाले वृक्ष को पूर्णतया धूल रहित कर देते हैं। रूस में किये गये शोध कार्य के दौरान यह पाया गया कि मेपल, लिन्डेन और पापलर वृक्ष सर्वोत्तम धूल फिल्टर पौधे हैं। पापलर वृक्ष की एक पत्ती अपनी जीवन अवधि में एक किलो धूल छान सकती है। इस दृष्टि से भारतीय वृक्षों पर शोध के दौरान यह पाया गया कि पीपल (४.७५ग्राम), पाकड़ (४.०९ग्राम), बरगद (३.५९ग्राम), साल (४.५०ग्राम), अर्जुन (४.४९ग्राम), देवदार (४.५६ ग्राम) अन्य फिल्टर्ड वृक्षों में कटहल, नीम, महुआ, केला आदि हैं।

प्रातःकालीन वायु में नमी आवश्यकता से अधिक बढ़ जाती है तथा शाम को कम हो जाती है। वृक्षों का सान्निध्य प्राप्त होने पर यह संतुलित हो जाती है। इसके सान्निध्य से प्रातःकालीन आर्द्रता कम हो जाती है और दोपहर के उपरान्त वह बढ़ जाती है। उदाहरणस्वरुप :

ऋतु	प्रातःकाल	दोपहर
गर्मी	१० प्रतिशत की कमी	३प्रतिशत की वृद्धि
वर्षा	३प्रतिशत की कमी	९प्रतिशत की वृद्धि
सर्दी	१६प्रतिशत की कमी	१३प्रतिशत की वृद्धि

आर्द्रता का संतुलन सही नही रहने पर फेफडे, त्वचा व नाक पर कार्य का दबाव बढ़ जाता है। इसके अधिक उतार-चढ़ाव के कारण ही शीत ऋतु में त्वचा फटने लगती

हैं। फैंकफर्ट में शोध के दौरान यह पाया गया कि ५० से १०० मीटर चौड़ी पट्टी वाले वृक्ष वायु की आर्द्रता में ५प्रतिशत की वृद्धि कर देते हैं। अतः शीतप्रधान देशों में ऐसे वृक्ष रोपित किये जाने लगे हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वनों की अंधाधुंध कटाई पर्यावरण को असंतुलित कर रही है। मानव जीवन के लिये पेड़-पौधों का वैज्ञानिक महत्त्व समझते हुये आज उसके संरक्षण एवं संवर्द्धन की आवश्यकता है।

❑

वरिष्ठ प्रवक्ता
प्राचीन इतिहास
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
दुद्धी, सोनभद्र (उ०प्र०)

गीत और ग़ज़ल के नये आयाम

●●

श्री गिरिजेश श्रीवास्तव 'बन्धु'

थकी हारी देह टूटी
बँट गये तुम फासलों में
एक लम्बी उम्र गुजरी
पत्थरों के काफिलों में।

लगता है सशक्त रचनाकार श्री अमरनाथ श्रीवास्तव द्वारा ये पंक्तियाँ स्वयं के लिये लिखी गयी हैं। सौम्य, तेजोदीप्त बदन, विस्तृत ललाट, अप्रतिम वाग्माधुर्य के धनी प्रतिभा के पारखी वरिष्ठ रचनाकार अमरनाथ श्रीवास्तव मानव जीवन के साथ-साथ चलती हुई परिस्थितियों के कवि हैं। वह अपने काव्य में भारतीय संस्कृति, प्रकृति के सरोकारों, मानव के जीवन मूल्यों, स्व के साथ-साथ परा के कवि हैं। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा साहित्यभूषण सम्मान अमरनाथ जी को उनकी प्रथम कृति 'गेरु की लिपियाँ' के साथ ही प्रदान किया जाना चाहिये था किन्तु देर आये दुरुस्त आये। श्रीवास्तव जी की तीन कृतियाँ, जो त्रिदेव के रूप में कहें, या कि साहित्य की त्रिवेणी कहें, के रूप में हमारे सम्मुख आयीं और साहित्यभूषण सम्मान लेकर आयीं। यद्यपि उनकी पूर्व दोनों कृतियाँ 'गेरु की लिपियाँ' और 'दोपहर में गुलमोहर' सम्मान प्राप्त कर चुकी हैं अपितु ग़ज़ल संग्रह 'आदमी को देखकर' के साथ 'साहित्यभूषण' आना इस बात का द्योतक है कि साहित्य के श्रेष्ठ-श्रेष्ठतर-श्रेष्ठतम् सम्मान प्राप्त करने के प्रगतिशील मार्ग पर अमरनाथ जी अनवरत अग्रसर होते जा रहे हैं। यह सम्मान मात्र अमरनाथ जी का नहीं है बल्कि उनकी रचनाधर्मिता का सम्मान है, उनके साहित्यकार का सम्मान है, प्रयाग के साथ-साथ उनकी

जन्मस्थली, गाजीपुर की भूमि का सम्मान है। मैं उन्हें बधाइयाँ देते हुये प्रणाम निवेदित कर रहा हूँ और यह अपेक्षा कर रहा हूँ कि साहित्याकाश में प्रस्तुत तीन नक्षत्रों की अविरल शृंखला को अग्रसित करते रहेंगे। 'गेरु की लिपियाँ' जहाँ सांस्कृतिक मूल्यों की रचना है वहीं 'दोपहर में गुलमोहर' सामाजिक सरोकारों की रचना है। वर्तमान में सामाजिक सरोकारों की छाया में जिस प्रकार सांस्कृतिक मूल्यों और जीवन मूल्यों का जो ह्रास हेता जा रहा है, का भरपूर चित्र उकेरती हुई रचना 'आदमी को देखकर' है। प्रतीत होता है श्रीवास्तव जी के रचना का शीर्षक सही में आदमी को देखकर ही प्रतिवादित किया है।

अमरनाथ जी कहते हैं आज के 'आदमी को देखकर' ऐसा लगता है जैसे-

सजे हुए दस्तरख़्वानों पर, मरी भूख के ताने-बाने,
ठहरे हुये समय सी टेबुल, टिकी हुई बासी मुस्कानें,
शिष्टाचार- डरे नौकर सा, अवसर दबे पाँव चलता है।

ठीक ऐसा ही हो रहा है आज का आदमी, लगता है आदमी, आदमी होकर कोई बड़ी गलती कर रहा है। कवि अपनी कविता के माध्यम से मनुष्य को ढांढस भी बँधाता है- "पका हुआ फल" के प्रतीक से-

कहता है पका हुआ फल
देह नहीं है मेरी सीमा-
मुझसे है आगामी फल।

गीत की समृद्ध विधा नवनीत के प्रतिष्ठित गीतकार अमरनाथ जी को काव्य की किसी एक विधा के दायरे में नहीं सीमित किया जा सकता, वह बँधना नहीं पसन्द करते, कहते हैं-

बँधे हुये पानी में, हलचल क्या होती
एक लहर अनहोनी, कहाँ तक भिगोती!

यह अपनी रचना में हलचल होते देखना चाहते हैं, धारा में हलचल तभी होगी जब विधाओं का संगम होगा, वह टूटने को अशुभ नहीं मानते हैं, वह निरांशा को स्थान देना उचित नहीं समझते, वह आशावान रहना चाहते हैं, कहते हैं-

कई बार टूटे हैं एक बार और सही।

आधुनिकता की दौड़ उनके अन्तर्मन को उद्वेलित करती है और कह ही उठते हैं-

हो गये कस्बे शहर तो, घरों के आकार बदले,
हाँफते सम्बन्ध बूढ़े, तिथि गयी त्यौहार बदले,
संगमरमर की सड़क पर, यात्रायें सो गयी हैं।

धैर्य न खोने की बात करते हुये अमरनाथ जी जीवन मूल्यों से समझौता नहीं करते, कहते हैं-

मानता हूँ तुम समय के साथ हो,
मैं तुम्हारी चाल चल नहीं सकता।

स्वाभिमान को परिभाषित करने के साथ-साथ अपना मुखर रूप रखते हुये अमरनाथ जी कहते हैं-

डूबते हुये भी हम तार-तार बिखरे,
आसमान छूटे हैं तिनकों के नखरे।

जोड़ती रही रिश्ते दरकीं दीवारें
अपना ही भार लिये झुकती मीनारें,
हम सिक्के मूल्यहीन, जगह-जगह नकारें।

इतना सब होते हुये भी अमरनाथ जी पीड़ाओं को फूल समझकर वर्जनाओं को नकार रहे हैं-

चिलचिलाती धूप में भी, कई रंगों में हरे हों,
एक पत्ता भी नहीं है, फूल से इतना भरे हों,

अमरनाथ जी के 'ग़ज़ल' साहित्य की बात करें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी ग़ज़लकार दुष्यन्त कुमार और बलबीर सिंह रंग को यदि हिन्दी ग़ज़ल की नींव रखने वाले माना जाये तो अमरनाथ जी उस नींव पर अन्य हिन्दी ग़ज़लकारों द्वारा खड़ी की गयी दीवारों पर छत रखने का काम कर रहे हैं। हिन्दी ग़ज़ल के आने पर, ग़ज़ल को ग़ज़ल के रूप में प्रतिष्ठित होने पर उर्दू शायरों में जो खलबली मची वह उनके प्रतिरोधात्मक रवैये के रूप में सामने आयी, उर्दू शायरों को यह विभीषिका सताने लगी कि उर्दू ग़ज़ल के प्रतिमानों, दायरे, विषयवस्तु से परे, यह कहें कि घिसी-पिटी लकीर से हटकर समानान्तर हिन्दी ग़ज़ल के खड़ी हो जाने पर उसकी सोच का अस्तित्व ही कहीं न मिट जाये, अतः उन्होंने कहना प्रारम्भ कर दिया कि हिन्दी में ग़ज़ल, "ग़ज़ल" हो ही नहीं सकती और एक सिरे से नकार तो न सके पर मान्यता देने को तैयार नहीं हुये। अमरनाथ जी ने अपने नवीन ग़ज़ल संग्रह "आदमी को देखकर" के माध्यम से ऐसे शायरों को खुली चुनौती दे डाली है, यदि ग़ज़ल को ग़ज़ल न कहने की हिम्मत है तो सामने आयें और हिन्दी ग़ज़ल को ग़ज़ल न कहने का साहस दिखायें। स्व० लक्ष्मीकान्त वर्मा ने यह बात डंके की चोट पर कह डाली है कि "ग़ज़ल संस्कृत में भी लिखी जा रही है, हिन्दी में भी लिखी जा रही है, ग़ज़ल केवल उर्दू या फारसी में ही हो सकती है यह संकुचित विचार वालों

का विचार तो हो सकता है किन्तु साहित्यकार का नहीं हो सकता है।" यह बात उन्होंने ऐसे समारोह में कही जहाँ हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के मर्मज्ञ बैठे थे, किसी की हिम्मत नहीं पड़ी उनकी उस ओजस्वी वाणी को काटने की। अमरनाथ जी की चुनौती को कोई नकार नहीं मिल सकती है वह एक सफल ग़ज़लकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं और "साहित्यभूषण" सम्मान से सम्मानित कर के उत्तर प्रदेश शासन ने उनकी इस प्रतिष्ठा को प्रमाणित कर दिया है।

उर्दू ग़ज़ल की परम्परा से हटकर अमरनाथ जी ग़ज़ल कहते हैं, वह ललकार कर कहते हैं-

हरसिंगार का पौधा हूँ मैं, फूल से पहचानेंगे लोग
फल वाले पौधों से कह दो, मैं हूँ उनकी जात नहीं,

अमरनाथ जी ग़ज़ल में, विषयवस्तु स्वयं तैयार करते हैं, वह पृष्ठभूमि भी स्वयं तैयार करते हैं और मानव-मन की पीड़ा को ग़ज़ल के रूप में ढ़ालकर सामने लाकर रख देते हैं-

एक तो घर में कुवाँरी लड़की
ऊपर से टूटी खिड़की।
भूखे बच्चे आँक रहे हैं,
चौके में क्यों "कलछुल" खड़की।

उन्होंने समाजिक सरोकारों के गिरते स्तर को देखा और कह उठे-

इस तरह मौसम बदलता है, बताओ क्या करें,
शाम को सूरज निकलता है, बताओ क्या करें।

अमरनाथ जी उर्दू ग़ज़ल से हिन्दी ग़ज़ल को कमजोर नहीं मानते और प्रमाणित कर देते हैं कि हिन्दी ग़ज़ल ही ग़ज़ल है- उर्दू ग़ज़ल आरी है तो हिन्दी ग़ज़ल शीशम का कुन्दा है-

उस बढ़ई का चेहरा देखो, हाथ में जिसके आरी है,
गाँठ भरा शीशम का कुन्दा हर दाँते पर भारी है।

इस तथ्य को नकारने का साहस किसी में नहीं है। अमरनाथ जी ग़ज़ल के माध्यम से यह प्रमाणित करना चाह रहे हैं कि उर्दू मान्यता के अनुसार ग़ज़ल केवल आशिक और माशूक के बीच प्यार भरी बातें ही नहीं हैं बल्कि जीवन मूल्यों का दर्पण है, ग़ज़ल शाश्वत जीवन शैली है, जीने की कला है, समाज में जीने का मार्ग है वह कहते हैं, मटमैले कुर्ते वाले के रूप में-

चाहे ताजमहल बनवा लो चाहे अंगूठे ले लो,
खुश होने पर सो जाते हैं मटमैले कुर्ते वाले।

एक बड़ी अन्तरंग बात अमरनाथ जी की ग़ज़ल कह जाती है-

दो तट मिलकर भूल गये हैं
किसने दरिया पाटा होगा।

अमरनाथ जी की गज़ल लिखी हुई ग़ज़ल नहीं है, कही हुई ग़ज़ल नहीं हैं, बोलती हुई ग़ज़ल है-

वजूद अपना वहीं छूट गया है यारों
जहाँ कि कोई मुझे ढूँढता नहीं होगा।

इस बहुरूपिये समाज को अमरनाथ जी की ग़ज़ल झकझोरने से बाज नहीं आती है- ग़ज़ल के माध्यम से वह कहते हैं-

हार गया मैं भरी सभा में उसके लम्बे टीके से,
हाथ सुमिरनी बगल करनी, जिस पर मधुरी बानी है।

और आगे फिर कहते हैं-

उखड़े तेवर, उखड़ी बातें, उखड़ी-उखड़ी आवाजें,
लोगों से उपहार मिले हैं, मैंने धर्म निभाया तो।

आगे भी पीड़ा को व्यक्त करना आनन्द की अनुभूति से कम नहीं बताते-

कभी जो था गले का हार बनकर
है मेरी राह में दीवार बनकर।

और देखिये

चंचल भौंरा क्या जानेगा
चंपा के फूलों की उलझन।

जैसा मैंने कहा कि पीड़ा को आनन्द बताते हैं अमरनाथ जी क्योंकि वह पीड़ा को आनन्द का प्रतिरूप मानकर जीवन जी रहे हैं-

है वियोग शृंगार नहीं तो
तेरी आँख में काजल कैसा।

वह फिर से कह उठते हैं-

यूं खनकती है मेरे पाँव से लिपटी जंजीर
बात करती है जो अपने से सहेली की तरह।

तमाम तिरस्कारों के बावजूद अमरनाथ जी ग़ज़ल को प्रतिष्ठापित करने में पूर्णतया सफल हुये हैं, कुछ सिरफिरे लोगों को नकारते हुये अपनी बात मजबूती से कह रहे हैं-

चाँदनी मेरी तरफ देख के मुड़ जाती है
यह किसी और के हिस्से की जगह हो शायद।

का विचार तो हो सकता है किन्तु साहित्यकार का नहीं हो सकता है।" यह बात उन्होंने ऐसे समारोह में कही जहाँ हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के मर्मज्ञ बैठे थे, किसी की हिम्मत नहीं पड़ी उनकी उस ओजस्वी वाणी को काटने की। अमरनाथ जी की चुनौती को कोई नकार नहीं मिल सकती है वह एक सफल ग़ज़लकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं और "साहित्यभूषण" सम्मान से सम्मानित कर के उत्तर प्रदेश शासन ने उनकी इस प्रतिष्ठा को प्रमाणित कर दिया है।

उर्दू ग़ज़ल की परम्परा से हटकर अमरनाथ जी ग़ज़ल कहते हैं, वह ललकार कर कहते हैं-

हरसिंगार का पौधा हूँ मैं, फूल से पहचानेंगे लोग
फल वाले पौधों से कह दो, मैं हूँ उनकी जात नहीं,

अमरनाथ जी ग़ज़ल में, विषयवस्तु स्वयं तैयार करते हैं, वह पृष्ठभूमि भी स्वयं तैयार करते हैं और मानव-मन की पीड़ा को ग़ज़ल के रूप में ढ़ालकर सामने लाकर रख देते हैं-

एक तो घर में कुवाँरी लड़की
ऊपर से टूटी खिड़की।
भूखे बच्चे आँक रहे हैं,
चौके में क्यों "कलछुल" खड़की।

उन्होंने समाजिक सरोकारों के गिरते स्तर को देखा और कह उठे-

इस तरह मौसम बदलता है, बताओ क्या करें,
शाम को सूरज निकलता है, बताओ क्या करें।

अमरनाथ जी उर्दू ग़ज़ल से हिन्दी ग़ज़ल को कमजोर नहीं मानते और प्रमाणित कर देते हैं कि हिन्दी ग़ज़ल ही ग़ज़ल है- उर्दू ग़ज़ल आरी है तो हिन्दी ग़ज़ल शीशम का कुन्दा है-

उस बढ़ई का चेहरा देखो, हाथ में जिसके आरी है,
गाँठ भरा शीशम का कुन्दा हर दाँते पर भारी है।

इस तथ्य को नकारने का साहस किसी में नहीं है। अमरनाथ जी ग़ज़ल के माध्यम से यह प्रमाणित करना चाह रहे हैं कि उर्दू मान्यता के अनुसार ग़ज़ल केवल आशिक और माशूक के बीच प्यार भरी बातें ही नहीं हैं बल्कि जीवन मूल्यों का दर्पण है, ग़ज़ल शाश्वत जीवन शैली है, जीने की कला है, समाज में जीने का मार्ग है वह कहते हैं, मटमैले कुर्ते वाले के रूप में-

चाहे ताजमहल बनवा लो चाहे अंगूठे ले लो,
खुश होने पर सो जाते हैं मटमैले कुर्ते वाले।

एक बड़ी अन्तरंग बात अमरनाथ जी की ग़ज़ल कह जाती है-

दो तट मिलकर भूल गये हैं
किसने दरिया पाटा होगा।

अमरनाथ जी की ग़ज़ल लिखी हुई ग़ज़ल नहीं है, कही हुई ग़ज़ल नहीं हैं, बोलती हुई ग़ज़ल है-

वजूद अपना वहीं छूट गया है यारों
जहाँ कि कोई मुझे ढूँढता नहीं होगा।

इस बहुरूपिये समाज को अमरनाथ जी की ग़ज़ल झकझोरने से बाज नहीं आती है- ग़ज़ल के माध्यम से वह कहते हैं-

हार गया मैं भरी सभा में उसके लम्बे टीके से,
हाथ सुमिरनी बगल करनी, जिस पर मधुरी बानी है।

और आगे फिर कहते हैं-

उखड़े तेवर, उखड़ी बातें, उखड़ी-उखड़ी आवाजें,
लोगों से उपहार मिले हैं, मैंने धर्म निभाया तो।

आगे भी पीड़ा को व्यक्त करना आनन्द की अनुभूति से कम नहीं बताते-

कभी जो था गले का हार बनकर
है मेरी राह में दीवार बनकर।

और देखिये

चंचल भौंरा क्या जानेगा
चंपा के फूलों की उलझन।

जैसा मैंने कहा कि पीड़ा को आनन्द बताते हैं अमरनाथ जी क्योंकि वह पीड़ा को आनन्द का प्रतिरूप मानकर जीवन जी रहे हैं-

है वियोग श्रृंगार नहीं तो
तेरी आँख में काजल कैसा।

वह फिर से कह उठते हैं-

यूं खनकती है मेरे पाँव से लिपटी जंजीर
बात करती है जो अपने से सहेली की तरह।

तमाम तिरस्कारों के बावजूद अमरनाथ जी ग़ज़ल को प्रतिष्ठापित करने में पूर्णतया सफल हुये हैं, कुछ सिरफिरे लोगों को नकारते हुये अपनी बात मजबूती से कह रहे हैं-

चाँदनी मेरी तरफ देख के मुड़ जाती है
यह किसी और के हिस्से की जगह हो शायद।

अमरनाथ जी ने दर्द जिया है, मानव पीड़ाओं को झेला है तमाम फासलों के बीच जीते हुये तमाम उम्र जी है अमरनाथ जी ने बहुत पहले कहा था-

एक लम्बी उम्र गुजरी
पत्थरों के काफिलों में।

वह आज भी कहते हैं-

तन्हाई जी बहलाये
दर्दों की सौगात नयी है।

इस दुनिया को आगे भी वह देखते रहेंगे, कहते रहेंगे-

दुनिया की जब रंगत देखी
मैने तेरी सूरत देखी।

मैनें जो कहा वह अमरनाथ जी के लिये अतिश्योक्ति नहीं है, दुनिया के ग़ज़लकार, साहित्यमनीषी, काव्य के मर्मज्ञ गुण-दोषों के पारखी उन्हें सम्मान दे रहे हैं और देते रहेंगे।

❑

अक्षयवट साहित्य एवं संस्कृति अकादमी
१०८९-ए, राजरूपपुर,
इलाहाबाद

शंकर के अद्वैत वेदान्त में भक्ति-तत्व

●●

डॉ० रविकान्त त्रिपाठी

वेदान्त के सर्वमान्य प्रमुख ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी में उपनिषद मूल प्रस्थान है और शेष दो उन पर आधारित माने जाते हैं। वेदान्त के आचार्यों में, जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर अपने अद्वैतवेदान्त सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा की उसके तीन विभाजन किये जा सकते हैं :-

१. शंकराचार्य पूर्वोत्तर अद्वैतवेदान्त
२. शंकराचार्य का अद्वैतवेदान्त
३. शंकराचार्योत्तर अद्वैतवेदान्त

इनमें आचार्य शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त ने जितनी प्रतिष्ठा प्राप्त की, उतनी अन्य सम्प्रदाय ने नहीं; इस बात का प्रमाण यही है कि अद्वैत वेदान्त कहने से व्यक्ति को शंकर का ही अद्वैतवेदान्त गृहीत होता है। प्रस्तुत शोध पत्र शंकर दर्शन विषयक भक्तित्व के पुनरीक्षण से सम्बन्धित है।

प्रकटतः ज्ञानमार्ग और भक्तिपूर्ण मार्ग क्रमशः बुद्धि और हृदय की केन्द्रीयता के साथ एक दूसरे के विपरीत दिखायी देते हैं। ज्ञान मार्ग का बौद्धिक कलेवर भक्तिमार्ग के भाव-प्रवण स्वरूप से सर्वथा अलग प्रतीत होता है और संभवतः दोनों के इसी अन्तर के कारण ही इस समान्य धारणा का विकास हुआ कि शंकर दर्शन ज्ञानमार्गी होने के कारण न केवल भक्ति तत्त्व से शून्य है, और उसका विरोधी है बल्कि उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप भक्तिमार्ग ने भक्ति आन्दोलन की तीव्रता में अपनी स्पष्ट पहचान प्राप्त की और ज्ञानमार्ग का एक विकल्प प्राप्त किया यद्यपि उसके सूत्रों की प्राचीनता तो किसी न किसी रूप में ऋग्वेद काल तक जाती है। इस शोध पत्र में शंकर

दर्शन विषयक इस धारणा के पुनर्वीक्षण के द्वारा इस जिज्ञासा के शमन के प्रति उद्दिष्ट है कि क्या वास्तव में ज्ञान और भक्ति के मध्य कोई नैसर्गिक विरोध है और यदि दोनों के लक्ष्य समान हैं तो क्या इसमें कोई समन्वय सूत्र ढूंढा जा सकता है? यदि हाँ, तो शंकर दर्शन में ज्ञान और भक्ति के मध्य विरोध कैसे व्याख्यायित किया जा सकता है? यदि नहीं तो शंकर के दर्शन में पूर्णता का दावा किस प्रकार संभव है? इन प्रश्नों पर विचार करने के पूर्व भक्ति की सामान्य पारम्परिक अवधारणा को दृष्टिपथ में रखना आवश्यक होगा और तत्पश्चात इस अवधारणा के सूत्रों की शंकर दर्शन में एक प्रच्छन्न "घटक अवयव" का प्रकाशन हो सकेगा।[1]

भज् धातु में क्तिन् प्रत्यय के संयोग से उद्‌भूत बहुअर्थक शब्द के व्युत्पतिमूलक अर्थ का भाग (हिस्सा) शब्द से सम्बन्ध स्थापित करते हुए कतिपय इतिहासकारों ने कबीलाई जीवन में सम्पत्ति विभाजन की भावना से उसे जोड़ने का प्रयास किया है। इस प्रयास में भगवत् (भगवान) शब्द का अर्थ सम्पत्ति का एकमात्र सम्पूर्ण अधिकारी[2] बताते हुये भक्ति का अभिप्राय सम्पत्ति में भाग प्राप्त करने की इच्छा से "भागवत" के प्रति प्रेम ओर निष्ठा का भाव व्यक्त करने से समझा गया जो अपने ऐतिहासिक विकास में परिस्थितिजन्य अर्थवैभिन्य की प्रक्रिया से गुजरते हुये कालान्तर में पारलौकिक तथा आध्यात्मिक भाव का संकेतक बन गया। भक्ति की इस भौतिकवादी अवधारणा का विकास मध्यकाल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में विकसित सामन्तवादी व्यवस्था के सैद्वान्तिक ढ़ाँचे में उसकी संगति स्थापित करने के प्रयासों में दिखायी देता है। भक्ति आन्दोलन के विकास काल के राजनीतिक घटनाक्रम के साथ सन्दर्भित करके देखने के प्रयास में कतिपय विद्वानों ने बाह्यगत समानताओं के आधार पर उसे ईसाई धर्म के तो कुछ अन्य विद्वानों ने इस्लाम धर्म के हिन्दू धर्म और समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का परिणाम बताया है। छुआछूत, ऊँच-नीच के भेदभाव से ग्रस्त हिन्दू समाज में निम्नवर्गीय समाज के सदस्यों द्वारा सामाजिक, धार्मिक रूढ़ियों व परमपराओं के विरूद्ध किये जाने वाले विद्रोह के रूप में भी भक्ति आन्दोलन को व्याख्यायित किये जाने के प्रयास किये गये।[3]

भक्ति के अवधारणा के ऐतिहासिक विकास पर एक दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि भक्तिकाल भले ही मध्यकाल में एक आन्दोलन के रूप में दिखायी देता हो, सूत्र सबमें इसकी प्राचीनता विशेषतः वरूण तथा इन्द्र को सम्बोधित ऋग्वेद के

---

१. भक्ति शब्द के विभिन्न अर्थों के लिये - एम० विलियम्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ४३।

२. सुवीरा जायसवाल - दओरजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ वैष्णजिम दिल्ली-१६७, पृ० ३८।

३. डी०डी० कौशम्बी, द कल्चर एंड सिविलाइजेशन ऑफ एन्शियन्ट एशिया इन हिस्टोरिकल आउट लाइन्स, ए० वेवर, ई०डब्लू हापकिन्स, एन० मैक्नीकल के तर्कों का खण्डन है हेमचन्द्र राय चौधरी, बी०एन० सील, आर०जी० भण्डारकर आदि के द्वारा किया जा चुका है। ताराचन्द्र, युसुफ इस मत के प्रतिपादक हैं।

कतिपय भावपूर्ण क्षेत्रों तक पहुँचती दिखायी देती है।[1] उत्तरवैदिक काल के प्रथमार्ध में याज्ञिक, आनुष्ठानिक, कर्मकाण्डीय बहुलता में यद्यपि ऊपर से देखने पर इसके संकेत नहीं गिनते तथापि यज्ञ सम्पादन के एक प्रमुख उद्देश्य, देव सायुज्य के रूप में भक्ति की चेतना एक अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित हो रही थी। उपनिषद काल में उसकी भावात्मक झलक कठ और मुण्डक उपनिषद में कही नहीं दिखायी देती है[2] और श्वेताश्वर उपनिषद में तो भक्ति शब्द का उल्लेख तो लगभग उसी अर्थ में प्राप्त होता है जो कालान्तर में विकसित अवधारणा का केन्द्र बनकर उभरा।[3] इस प्रवृत्ति का अगला विकास गीता और महाभारत विशेषतः शान्तिवर्ष के नारायणीय खण्ड में देखने को मिलता है जबकि भागवत धर्म के नाम से वैष्णव धर्म की लोकप्रियता धीरे-धीरे बढ़ने लगी थी और भक्ति ने उसके एक प्रमुख सिद्वान्त का रूपग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। भागवतपुराणों में भक्ति का स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट हुआ और धीरे-धीरे मध्यकालीन धर्मग्रन्थों और परवर्ती आचार्यों एवं सन्तो की वाणी में उसने अपना निश्चित आकार प्राप्त कर लिया। मोक्ष प्राप्ति के साधनों ज्ञान और कर्म के साथ संदर्भित होकर साधनत्रयी का निर्माण किया। मध्यकालीन धर्मग्रन्थों में भक्ति का सांगोपांग विवरण प्राप्त होता है जो जनमानस में इसके बढ़ते प्रभाव की स्पष्ट झलक है और भक्ति मार्ग के आन्दोलनकारी स्वरूप का स्पष्ट प्रभाव भी।

अपने अवधारणात्मक रुप में भक्ति, भक्त और ईश्वर के बीच के सम्बन्धों की भावात्मक चेतना से उदधृत होती है और अपने विकास की चरम-अवस्था में सम्बन्धों की औपचारिकताओं के विलीनीकरण द्वारा ईश्वर के प्रति असंदिग्ध निष्ठा और पूर्ण समर्पण तक जा पहुंचती है। शाण्डिल्य "भक्ति जिज्ञासा" का शमन करते हुये भक्ति को" ईश्वर में पुनरावृत्ति रूप में परिभाषित करते हैं।[4] जिसकी काठो के अनुसार दो व्याख्यायें संभव है :-

१. भक्ति का सर्वोच्च रूप है परमेश्वर में अनुरक्ति या

२. परमेश्वर में सर्वोच्च अनुरक्ति ही भक्ति है।

शाण्डिल्य के कथन की टीका करते हुये स्वप्नेश्वर "आराध्य विषयक राग" से उद्घृत बताते हुये परमेश्वर के विषय में अन्तःकरण की एक विशेषवृत्ति को भक्ति बताते हैं। नारद के अनुसार यह ईश्वर के प्रतिपरम प्रेम है जो अमृत स्वरूप है। अनुरक्ति, अनुराग, प्रेम, प्रीति आदि भक्ति की प्राथमिक शर्त है जो ईश्वर की

---

१. ऋगवेद २.६२.२१, ६.४५.२६, ०.८६.४, ०.८८.२।

२. कठोपनिषद ९.२२, मुण्डकोपनिषद ३.२२।

३. श्वेताश्वदोपनिषद उपनिषद ६.२३।

४. अथातो भक्तिं जिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र १.१.१.२।

महिमा और उसकी उपाधियों आदि के सम्यक ज्ञान से भक्त के मन में उत्पन्न होता है। यह अनुरक्ति, अनुराग, प्रेम अथवा प्रीति अबाधति (अव्यस्ति) एवं अहैतुकी होनी चाहिये, तभी भक्ति का सर्वोच्च रूप प्राप्त हो सकेगा। इस भक्ति का प्रतिफल क्रमशः सालोक्य सृष्टि, सामीप्य एवं सामुज्य से बढ़ते हुये एकत्व तक जा पहुँचता है इस प्रकार भक्ति का सर्वोच्च लक्ष्य वही है जो ज्ञान का है अर्थात अंश का समग्र में, भक्त का भगवान में अथवा आत्मन् का ब्रह्म में विलय। किन्तु लक्ष्य की समानता के होते हुये ज्ञान और भक्ति के बीच शाण्डिल्य अन्तर बताते हैं। उनके अनुसार भक्ति इच्छा के प्रयत्न का अनुसरण नहीं करती, अतः वह ज्ञान की भाँति कर्म नहीं है और इस कारण ज्ञान से भिन्न है। ज्ञान की भाँति भक्ति बुद्धि का विषय नहीं है।[1] यह मन का विषय है और संदेहविहीन निष्ठा और श्रद्धा से फलीभूत होता है। अहं का लोप इसकी प्राथमिक अनिवार्यता है जो अपने नैमित्तिक अस्तित्व के स्वीकरण से प्रारम्भ होती है और सम्पूर्ण कर्तव्य को ईश्वरीय अथवा प्रसाद के पर्याय बोध में डुबा देती है। भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में भक्त ईश्वर की कृपा का आंकाक्षी होता है किन्तु जैसे-जैसे भक्ति का स्तर ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे भक्त के मन की अकांक्षा भले ही वह कृपा हो तिरोहित होती जाती है। साथ ही भक्त के मन में सर्मपण भाव की गहनता बढ़ती जाती है जो ईश्वर और भक्त के बीच का भेद समाप्त करती जाती है ओर अन्ततः भक्त भगवान में उसी प्रकार आत्मसात् प्राप्त कर लेता है जैसे बूंद समुंद्र में। यह भक्ति की पराकाष्ठा है जो उसके नवधा प्रकारों में किसी भी प्रकार में प्राप्त हो सकती है।

भक्ति की इस सामान्य अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में शंकर के व्यक्तित्व और कृतित्व का आंकलन करने से यह धारणा होती है कि शंकर दर्शन ज्ञानात्मक एकान्तिकता का दर्शन है और चूंकि ज्ञान का स्वरूप बौद्धिक होता है जिसका आधार तर्क और विवेक है इसलिये वह श्रद्धा निष्ठा और आस्था के भावजनित स्तंभों पर निर्मित और विकसित भक्ति प्रसाद की सहज ही अनदेखी करता है।[2] शंकर दर्शन का स्वरूप निश्चयतः ज्ञानात्मक है और उसमें मोक्ष प्राप्ति के साधनों में ज्ञानमार्ग की सर्वोच्चता निर्विवादतः प्रतिपादित की गयी है। किन्तु इस बात में संदेह के लिये अवकाश नहीं है कि ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन शंकर के भक्तिमार्ग के अविरोध में किया है।[2] ज्ञान की सर्वोच्चता स्थापन का शंकर प्रयास वस्तुतः वैरोध्यमूलक द्वैतात्मकता के परिसर द्वारा अद्वैत के प्रतिष्ठापन का प्रयास था। ब्रह्म एकमात्र सत्य है और ज्ञान उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन है जो अपनी उच्चतम

---

१. नारद भक्ति सूत्र १५,२६,३० शाण्डिल्य भक्ति सूत्र ९६,९८ कृष्णा शर्मा।

२. जी० फैलान, "अक्ट्रिनल बैकग्राउन्ड ऑफ द भक्ति स्फाचुआरिटी" रिलीजस हिस्ट्रीज्मी।

स्थिति में बौद्धिक स्वरूप का अतिक्रमण कर आत्मज्ञान का रुप प्राप्त कर लेता है। जो आत्म साक्षात्कार अथवा आत्मानुभूति का ही एक पर्याय है। दूसरी ओर भक्ति का चरम भी ईश्वर और भक्त के द्वैत को समाप्त कर एक ऐसे ही अद्वैत की स्थिति में पहुँचा देता है और यह स्थित भी आत्मानुभूति के रूप में ही ज्ञेय है। इस प्रकार सतही विभेद से ऊपर उठकर देखने पर ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं रह जाता और वे दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू प्रतीत होते हैं। उनका भेद उनके बीच किसी नैसार्गिक विरोध का परिणाम नहीं बल्कि ये भेद उपाधि भेद मात्र हैं और उपाधियों का प्रभाव रहने तक यह विरोध का भाव अहसास देता रहता है। शंकर दर्शन में भक्ति का यदि कोई विरोध है तो वह मात्र आभास है। शंकर के बाद आन्दोलन के सूत्रधार भक्ति प्रमुख वैष्णव आचार्यों ने भक्ति आन्दोलन को गति देने से भले ही अपने आपको शंकर से अलग रखने का प्रयास किया हो किन्तु उनमें कोई भी अन्तर अद्वैत दर्शन के प्रभाव से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाया। बल्कि एक (आधुनिक) मत के अनुसार तो अद्वैतवेदान्त की अतिलोकप्रियता ने उन्हें विवश कर दिया कि वे अपने सिद्वान्तों को इसी के सैद्वान्तिक ढ़ाँचे के साथ सन्दर्भित करके ही विकसित करें और यदि सगुण भक्ति पर शंकर-दर्शन का प्रभाव कुछ अप्रत्यक्ष भी दिखायी देता हो तो निर्गुण भक्ति तो उसी का विकास बिन्दु प्रतीत होता है।[१]

शंकर का ज्ञान मार्ग की ओर सर्वोच्चता के बावजूद भक्ति से कोई विरोध नहीं था। उनके द्वारा संचित कतिपय स्त्रोत विशेषतः सौन्दर्य लहरी, दक्षिणामूर्ति स्तोत्र, हरिमीडे आदि ने उनकी भावसघन एवं उदार भक्ति का रूप प्राप्त होता है। शंकर मोक्ष प्राप्ति के साधनों में भक्ति की महत्ता को निश्चित रूप से स्वीकार करते हैं। विवेक चूडामणि में भक्ति को परिमार्जित करते हुये इसे "स्वरूपानुसंधान" अर्थात "आत्म स्वरूप की खोज" का साधन बताते हैं और उसे अपने पूर्ववर्तियों द्वारा प्रतिपादित "स्वात्मतत्त्व" की खोज से आभिन्न बताते हैं।[२] मोक्ष के लिये शंकर भक्ति को बहुत ही आवश्यक मानते हैं क्योंकि श्रद्धा भक्ति और ध्यान योग आध्यात्मिक साधन के तीन घटक हैं जिसमें श्रद्धा का वह बिन्दु है जहाँ से यह प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तथा ध्यान योग इसकी सक्रिय चेतना है ओर भक्ति वह भाव प्रवण संवेदना है जो प्रमुख संवेगों और मनोभावों को सातत्व प्रदान करते हुये

१. परम्परा के अनुसार और प्रायिक आधुनिक विवरण के अनुसार शंकर की विचार व्यवस्था एकांगी है। यद्यपि उसमें कुछ प्रश्नों पर विचार आगे के लिये अनेकधा व्याख्येय रह जाते हैं। .... मध्ययुग में चिरकाल मठवासी होने के कारण उनके दर्शन की छवि एकांगी निषेध की हो गयी जिसकी व्याख्या एकान्तिक कर्मत्याग और जगत्मिथ्यात्व के प्रयासों से ही होने लगी .... और भक्ति सम्प्रदाय के विरोध का वह लक्ष्य बन गया। गोविन्दचन्द्र पाण्डेय।

२. गोविदचन्द्र पाण्डेय पृ० १७१।

उसमें आत्मोनयन की अभीप्सा जाग्रत बनाये रखती है। अतः भक्ति का सर्वोच्च रुप ज्ञाननिष्ठा है। ऊपर से देखने पर अद्वैत भक्ति का यह सिद्धान्त अर्न्तविरोध ग्रस्त प्रतीत होता है किन्तु अपने अवधारणात्मक विकास में यह सभी अर्न्तविरोधों को दूर करता है। इसका प्रारम्भ भक्ति से होता है किन्तु इसकी अन्तिम परिणति एकात्मस्य आत्मानुभूति में होता है।

भक्ति और उपासना का शंकर कृत भेद भक्ति के शंकर स्वरूप को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है। मोटे तौर पर भक्ति का सम्बन्ध ज्ञान निष्ठा के रूप में यदि सगुण ब्रह्म से होता है और उसका परिणाम मोक्ष है तो उपासना किसी विशिष्ट वैयक्तिक ईश्वर के रूप में ब्रह्म के सगुण अथवा साकार ब्रह्म की आराधना है[1] जो उपासक को क्रमशः ऐहिक परलौकिक आनन्द प्राप्त करने के अतिरिक्त अवर मुक्ति (जो कर्म मुक्ति रूप है) की अर्हता प्रदान करती है। यह अवर मुक्ति अन्तिम मुक्ति अथवा मोक्ष को प्राप्तव्य बना देती है। शंकर का आग्रह निश्चित रूप से भक्ति की तुलना में उपासना को अवर बताने का प्रतीत होता है जिसे वे ज्ञान के अवर स्वरूप के साथ समीकृत करते हैं जब भक्ति को ज्ञान निष्ठा के रूप में ज्ञान का सर्वोच्च पर्याय माना गया है। जहाँ उपासना का प्रयोग शंकर उसके द्विआयामी स्वरूप के लिये करते हैं वहीं भक्ति को वे पूर्णतः हृदय और मन का अन्तर्गृहीत विषय मानते हैं। उपासना उपासक को ईश्वर की समीपता और सालोकता के लिये अर्ह बनाती है जबकि भक्ति सायुज्यता के प्रति स्पष्ट उद्दिष्ट होती है जिसकी परिणति आत्मज्ञान ओर मोक्ष में होती है। निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि निर्गुण ब्रह्म की सर्वव्यापकता में सगुण ब्रह्म का स्वंतः समावेश हो जाता है। नाम और रूप की औपाधिक औपचारिकतायें ब्रह्म की स्वरूपगत पूर्णता को किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं करती। ब्रह्म हो अथवा ईश्वर, शंकर की दृष्टि में दोनों अन्ततः एक ही हैं। भक्ति भाव ईश्वर अथवा सगुण ब्रह्म से भले ही जुदा हों, शंकर के मत में निर्गुण ब्रह्म को जानने के लिये इतना ही आवश्यक है और इस रूप में ब्रह्म भाव से शामिल भी है। भक्ति के कारण ही रुडोल्फ ओटो निचले धरातल पर शंकर को रामानुज की अपेक्षा कम भक्तिवादी नहीं मानते हैं यद्यपि उच्चतर धरातल पर निश्चयतः शंकर रामानुज से अपना पार्थक्य बनाये रखते हैं।[2]

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के प्रमुख प्रणेता और ज्ञान मार्ग के अप्रतिम

१. कृष्णा शर्मा।
२. विवेक चूड़ामणि।
३. ब्रह्मसूत्र भाष्य (३.२.१२-१४) में शंकर का कथन है कि उपासना के उद्देश्य से निर्गुण ब्रह्म पर गुणों की औपाधिकता ही सगुण ब्रह्म का कारण है।
४. रुडोल्फ ओटो, मिस्टीनिज्म; ईस्ट एण्ड वेस्ट, एम०एन० देशपाण्डे पृ० ७।

प्रतिपादक मानते हुये भी शंकर भक्ति के प्रति अपने आग्रह के कारण अपनी मूल चिन्तना से दूर नहीं हो जाते बल्कि एक व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस चिन्तना के व्यापक परिप्रेक्ष्य में भक्ति एवं इससे सम्बन्धित अन्य सभी धारणाओं को समेट लेते हैं; और इस प्रकार जहाँ ज्ञान को शुष्क बौद्धिकता के अनुशासन से ऊपर शंकर प्रेम और आनन्द की सरसता से अभिसिंचित करते हैं वहीं दूसरी ओर भक्ति की भाव प्रवणता को ज्ञानात्मक सूत्रों से संग्रहित कर अवर ब्रह्मानुभूति को परम ब्रह्मानुभूति की दिशा प्रदान करते हैं और इन दोनों की समन्वयिकपूर्णता के प्रतीक पुरुष बनकर अपनी सारी तेजस्विता और ऊर्जास्विता स्थापित करते हैं। यही शंकर का शंकरत्व है ज्ञान रूप में भी और भक्ति रूप में भी और यही उनका अद्वैत है जो सारे द्वैतों के साथ भी है, और उसके बाद भी अद्वैत ही रहता है, निर्विकार और निर्विकल्प।

इस प्रकार संक्षेपतः कहा जा सकता है कि शंकर के दृष्टि से भक्ति मोक्ष का सोपान है ज्ञान अन्तिम सोपान; लेकिन तत्वः दोनों में कोई भेद नहीं है।

२३/४७/५५-एच०
किदवई नगर, अल्लापुर
इलाहाबाद, उ०प्र०

पुस्तक समीक्षा

विष्णुकान्त शास्त्रीः सृजन के आयाम

●●

श्री कमलेश कुमार सिंह

'विष्णुकान्त शास्त्रीः सृजन के आयाम' पुस्तक में संपादक प्रकाश त्रिपाठी के संपादकत्व में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के साहित्यिक व्यक्तित्व व कृतित्व का सामंजस्य पूर्ण अंकन ४७१ पृष्ठों में बखूबी से किया गया है। यह पुस्तक ९ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय शास्त्री जी के व्यक्तित्व को परत दर परत उघाड़ता जाता है। सम्पादकीय "अपना लघु सुर्खियों शामो-शहर में है" में संपादक द्वारा शास्त्री जी के सृजन की परिचयात्मक चर्चा की गयी है। प्रथम अध्याय 'समय के आइने में विष्णुकान्त शास्त्री' में सत्रह शीर्षकों के अन्तर्गत शास्त्री जी के अब तक के सम्पूर्ण जीवन को दर्शाया गया है। द्वितीय अध्याय 'आत्मकथ्य' में शास्त्री जी ने स्वयं अपनी जीवन यात्रा को लिपिबद्ध किया है। तीसरे अध्याय 'सुगन्ध' में कुल तेरह विद्वानों के संस्मरण संग्रहित हैं। चौथे अध्याय में छः प्रतिष्ठित विद्वानों से शास्त्री जी के बारे में साक्षात्कार सम्मिलित है। सातवें अध्याय में प्रकाश जी का शास्त्री जी के साथ आत्मीय तथा सरस बातचीत प्रश्नोत्तर शैली में छापा गया है। छठें अध्याय 'निकष' में पन्द्रह अधिकारी विद्वानों ने शास्त्री जी के विभिन्न आयामों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है। सातवें अध्याय 'परख' में पन्द्रह विद्वानों ने शास्त्री जी के पुस्तकों की समीक्षा विभिन्न दृष्टिकोणों से की गयी है। आठवां व नवां अध्याय पत्रों से संबंधित है।

शास्त्री जी द्वारा स्वयं लिखा गया 'आत्मकथ्य रचना की अन्तर्यात्रा' एक रचनाकार के मनोविज्ञान, संस्कार, संघर्ष

और आत्मदुविधा की कहानी है जो सिर्फ शास्त्री जी पर ही नहीं बल्कि किसी भी रचनाकार के लिये सर्वकालिक है। शास्त्री जी पर अक्सर कम लिखने का आरोप लगता रहता है। इस आरोप की बहुत बेबाक सफाई इस रचना में दी गयी है। पुस्तक में आगे शास्त्री जी पर केन्द्रित शास्त्री जी की मूर्धन्य हस्तियों के संस्मरण हैं। इस संस्मरण के निष्कर्ष को यदि एक वाक्य में प्रस्तुत किया जाये तो व्यक्ति की सरलता सामंजस्य, उदारता और साहित्य कर्म के प्रति उनके सर्मपण के लिये सभी ने उन्हें सौ प्रतिशत अंक दिये हैं। विचारों का टकराव या खेमे का प्रभाव इनमें कहीं परिलक्षित नहीं होता है। श्री राम स्वरूप चतुर्वेदी व डॉ० रामकमल राय ने संस्मरणों के माध्यम से शास्त्री जी के भीतर छुपे रचनाकार को उकेरने का प्रयास किया है। मन्नू भण्डारी व श्री नारायण पाण्डे के संस्मरण भी उल्लेखनीय हैं।

शास्त्री जी पर केन्द्रित विभिन्न व्यक्तियों से संबंधित साक्षात्कार भी शास्त्री जी को और अधिक स्पष्ट करते हैं। परन्तु इस दृष्टि में शास्त्री जी के लेखन से सम्बन्धित सवाल कम और उनके जीवन पर अधिक प्रश्न हैं। इससे संस्मरणों का दोहराव कहीं-कहीं साक्षात्कारों में दिखता है। वास्तव में शास्त्री जी का व्यक्तित्व इतना व्यापक और मानवीय है कि वह शास्त्री जी के कृतित्व पर हावी हो जाता है। इस दृष्टि से थोड़ा अतिरिक्त संपादकीय प्रयास की आवश्यकता थी परन्तु खेमों में बटें साहित्य में वैचारिक दृढ़ता इतनी अधिक है कि शायद संपादक इस संबंध में अधिक कुछ नहीं कर सकते थे। शास्त्री के व्यक्तित्व पर बनी आम राय ही खेमेबाजी के इस माहौल में थोड़ा सुकून देती है। शास्त्री जी का कार्यक्षेत्र इतना व्यापक रहा है चाहे अकादमी जगत से उनका जुड़ाव है। बंगलादेश मुक्ति संघर्ष पर उनका कार्य एक राजनेता और इन सबसे अधिक एक साहित्य सर्जन और साहित्य सेवक के रूप में उनका व्यक्तित्व। जीवन की विविधता का इतना व्यापक अनुभव ही उनके संस्मरणों में जीवन रंग भर देता है ओर उनके बेजोड़ संस्मरण लेखन बना देता है।

शास्त्री जी का साहित्य भावना का साहित्य है। बद्रीनारायण जी का आलेख "भावना का लोक" में इस कथन की पूरी व्याख्या है। भक्ति आन्दोलन पर शास्त्री जी एक बहुत गहरी समझ रखते हैं। कबीर ओर तुलसी पर उनके लेखन कर्म की कन्हैया सिंह ने अपने आलेख में बहुत अच्छी समीक्षा की है। स्वयं शास्त्री जी द्वारा लिखा गया निबन्ध "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" शास्त्री जी की वैचारिक व्यापकता को रेखांकित करता है और स्पष्ट करता है कि कैसे शास्त्री जी तुलसी से लेकर नागार्जुन तक सामंजस्य बैठा लेते हैं। यद्यपि शास्त्री जी के कृतित्व में आलोचनात्मक मूल्यांकन पर सामग्री की कमी खटकती है। श्री विद्यानिवास मिश्र,

सत्यप्रकाश मिश्र व स्वयं शास्त्री जी संपादक की बातचीत में लेखन के विश्लेषण का प्रयास किया गया है। शास्त्री जी चेतन के विचारक हैं। संपादक ने यदि उन्हें 'आकाशधर्मी गुरू' की संज्ञा दी है तो ऊषा द्विवेदी ने उन्हें 'आत्मा का गुरू' कहा है। यह पुस्तक शब्दों का ऐसा बोलता हुआ रेखाचित्र है जिनमें शास्त्री जी के जीवन के सभी रंग दिखते हैं। शास्त्री जी को लिखे पत्र व उनसे निरन्तर लेखों की मांग बताती है कि धर्मवीर भारती व अज्ञेय जैसे लोग शास्त्री जी के लेखन को कितनी गंभीरता-से लेते थे। धनंजय चोपड़ा के लेख का शीर्षक है "इतिहास के साथ कदमताल करते शब्द" परन्तु वास्तव में शास्त्री जी के शब्द इतिहास के साथ ही नहीं वर्तमान के साथ भी कदमताल कर रहे हैं शास्त्री जी परम्परा व संस्कृति के पोषक तो हैं परन्तु उनकी सांस्कृतिक चेतना की अवधारणा गतिशील है। उनके वक्तव्यों में जगह-जगह नार्गाजुन, शमशेर व अरुण कमल की कविताओं के उद्वरण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि शास्त्री जी विचारशीलता में विश्वास करते हैं विचार जड़ता में नहीं।

इस प्रकार इस पुस्तक में शास्त्री जी का ऐसा व्यक्तित्व रचा गया है कि किसी भी कोण से देखने पर उसमें सम्पूर्णता की झलक मिलती है। समकालीन रचनाकारों पर ऐसी चर्चायें आवश्यक हैं। शास्त्री जी का सम्बन्ध एक निश्चित वैचारिक खेमे से माना जाता है परन्तु संपादक ने वैचारिक प्रतिबद्वता को आड़े न आने देते हुये साहित्य की सभी प्रमुख हस्तियों से शास्त्री जी के बारे में कुछ न कुछ लिखवाया है। यह सराहनीय है परन्तु शास्त्री जी पर अधिक आलोचनात्मक लेखन की आवश्यकता थी। इस सम्बन्ध में संपादक की सीमाओं को समझा जा सकता है। परन्तु उच्चकोटि के साहित्य कर्म के लिये सम्पादकीय जुझारूपन अतिआवश्यक है, आशा है कि संपादक यह जुझारूपन बनायें रखेगें।

❑

पुस्तक का नाम	-	'विष्णुकान्त शास्त्रीः सृजन के आयाम'
संपादक	-	प्रकाश त्रिपाठी
संस्करण	-	प्रथम संस्करण- २००३, मूल्य- ५०० रूपये मात्र
प्रकाशक	-	वचन पब्लिकेशंस, इलाहाबाद

ग्राम- रूपचन्द्रपुर, पोस्ट- बदलापुर
जिला- जौनपुर (उ०प्र०)

हिन्दी आलोचना पर छायी धुंध को हटाने का सजग प्रयास

●●

प्रो० महेन्द्र नाथ राय

"साहित्य का नया शास्त्र" हिन्दी आलोचना की गतिविधियों, उसकी उपलब्धियों एवं सीमाओं पर प्रकाश डालने वाली ऐसी साफ-सुथरी, एक सीमा तक विचारोत्तेजक, समीक्षात्मक कृति है जिसमें आलोचना ओर इतिहासदृष्टि, उर्दू परंपरा और प्रेमचन्द, हिन्दी आलोचना का विकास और मिश्र बन्धुओं की परंपरा शीर्षक से चार विचारात्मक निबन्ध एवं प्रमुख आलोचकों में आचार्य शुक्ल, बाजपेयी जी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० राम विलास शर्मा, नामवर सिंह, अज्ञेय, मुक्तिबोध, विजयदेव नारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि के आलोचना कार्य के महत्त्व पर संतुलित विवेचना के साथ काव्य भाषा, साहित्य का समाजशास्त्र, उपन्यास का समाजशास्त्र, अजनबीमन आदि को खोलने का सार्थक प्रयास है एवं अंत में हिन्दी के कुछ चर्चित उपन्यासों-चन्द्रकान्ता, सुनीता, त्यागपत्र, शेखर एक जीवनी, निर्वासित बीज, अंधेरे बंद कमरे, अपने अपने अजनबी, सफेद मेमने और अग्निबीज पर लेखिका की अपनी टिप्पणियाँ हैं। इस कृति के प्रथम खण्ड 'आलोचना और इतिहास दृष्टि' में लेखिका को यह अखरता है कि हिन्दी आलोचना में साहित्य को जातीय जीवन से जोड़कर देखने वाली दृष्टि का आभाव रहा है। इसी के चलते सिद्धों और नाथों का वह साहित्य जिसकी निष्पत्ति संतकाव्य, विद्यापति और सूर की कविता में होती है, तांत्रिक धारा से जुड़ा मानकर उपेक्षित होता रहा है जबकि यह हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा है, हिन्दी

साहित्य का नया शास्त्र : डॉ० गिरिजा राय, शालिनी प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण २०००, पृ० २८२, मूल्य-१००रूपये मात्र।

साहित्य की गंगोत्री है।

पुष्टि मार्ग या शुद्धाद्वैत सूर की कविता के वेदमत और वर्णाश्रम संबंधी विचारधारा तुलसी की कविता के तथा सूफी दर्शन और तसव्वुफ जायसी की कविता के बाह्य आवरण है, उपतत्व हैं जिनके भीतर लोकजीवन से जुड़ी कविता की निर्मल धारा प्रवाहित होती है। इस ओर व्याख्याताओं को ध्यान देना चाहिए। इसी उपक्रम में वह 'पृथ्वीराजरासो' में राष्ट्रीयता और जातीय अस्थिरता बोध के स्वर सुनती है, भूषण के काव्य में जातीय जीवन दृष्टि को उसके केन्द्र में लक्षित करती है। उसका अभिमत है कि 'विजय के धनी' शिवाजी और छत्रशाल एक व्यापक जनाधार के चलते महानायक बनते हैं जब कि राजपूती आन और अखड़ता के प्रतीक महाराणा प्रताप के शौर्य में राष्ट्रीयता की अनुगूंज कही नहीं सुनाई पड़ती फलतः वे किसी श्रेष्ठ कृति के चरित्र नायक नहीं बनाए जाते। भक्तिकाल की स्वच्छन्द काव्यधारा से जुड़े अकबर के दरबारी, प्रबल योद्धा, बहुभाषविद अब्दुर्रहीम खानखाना जैसे जातीय जीवन के प्रतिनिधि कवि हाशिए पर रह गए क्यों कि उन्हें कोई सहृदय समीक्षक नहीं मिला। शृंगारिकता रसमयता तथा तरल अनुभूतियों से भरा सहजता और मस्ती के साथ सामान्य आदमी के दुख-दर्द से जुड़ा रहीम का काव्य आज भी पुनर्विचार की मांग करता है। इन पर चर्चा जो हुई हैं, वह अपर्याप्त है। लेखिका की टिप्पणी है कि साहित्य को जीवन से जोड़ने का जैसा उपक्रम सिद्धों और नाथों में हैं, वैसा ही रहीम में भी है। इसी तरह अपनी जीवनचर्या भावबोध और विचारधारा सभी में थोथी सामंती कुलमर्यादा की जकड़बंदी को तोड़ने वाली, प्रेम को केन्द्रीय महत्व की चीज मानने और सिद्ध करने वाली मीरा का काव्य जो स्त्री की दीनता, विवशता एवं प्रेमाकुल हृदय की अद्‌भुत तन्मयता से सम्पन्न है- आलोचना में हाशिए पर ही रहा है। लेखिका के अनुसार जनता से जुड़ें साहित्य को, उपसाहित्य कहने से साहित्य की मुख्यधारा धुंधलाती है। साहित्य की इस दूसरी परंपरा के मूल्यांकन के लिए आलोचना का नया शास्त्र गढ़ना होगा।

'उर्दू परंपरा और प्रेमचंद' शीर्षक निबंध में लेखिका यह तो औरों की तरह ही स्वीकार करती है कि प्रेमचंद असाधारण महत्त्व के ऐसे कथाकार हैं जिन्हें गरीबी के अर्थशास्त्र की गहरी समझ है। उनमें जनपक्षधरता आर्थिक विषमता से उत्पन्न अमानवीय स्थितियों के चित्रण की गजब की क्षमता है, किसान आंदोलन, दलित आंदोलन आदि का प्रभाव-यह सब कुछ है पर इसी के साथ यह भी सच है कि वे मूलतः कहानीकार है और स्थायी महत्त्व के हैं। उनके उपन्यासों में बहुत बिखराव एवं अन्विति का अभाव है। उनके उपन्यास ऐतिहासिक दस्तावेज से हैं जिनमें समसामयिक समस्याएँ सतह पर तैरती हैं।

अंक-२ **हिन्दी आलोचना पर छाया धुंध को हटाने ...**

'हिन्दी आलोचना का विकास' में लेखिका का मानना है कि हिन्दी आलोचना का मूल स्वरूप कवितावादी रहा है और गद्य विधाओं की स्थिति दोयम दर्जे की रही है। वह हिन्दी आलोचना के विकास की सीधी-सादी डगर से जुड़े महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, पदमसिंह शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नंददुलारे बाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामविलास शर्मा, नामवर सिह, विजयदेव नारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी के अवदान का साफ सुथरे ढंग से मूल्यांकन करती है। इस मूल्यांकन में वह महावीर प्रसाद द्विवेदी का स्मरण आधुनिक चेतना के ऐसे पुरोधा के रूप में करती हैं जिन्होंने हिन्दी आलोचना में आचार्य शुक्ल के लिए जमीन तैयार की। शुक्ल जी का स्मरण वह हिन्दी आलोचना को रीतिवादी जकड़बंदी से मुक्त करने और साहित्य में लोक की प्रतिष्ठा के निमित्त करती है। रस की अभिनव व्याख्या हो, साधारणीकरण का महत्त्व प्रतिपादन हो, लोकोन्मुख दृष्टि से सामाजिक राजनीतिक प्रभावों के संदर्भ में हिन्दी साहित्य का लेखन हो या मनोभावों की व्याख्या हो- सर्वत्र शुक्ल जी लोकोत्तरता, व्यक्ति वैचित्र्यवाद, कलावाद को निरस्त करते हुए, विरूद्धों का सामंजस्य घटित करते हुए कर्म, शील और शक्ति कै सौन्दर्य को समेटते हैं। सौन्दर्य और रस को आनंद की स्थिति से उठाकर सदाचरण की यथार्थ जमीन पर प्रतिष्ठित करते हैं। आचार्य नंददुलारे बाजपेयी लेखिका के अनुसार आचार्य शुक्ल के चिंतन के पूरक के रूप में उभरते हैं जिन्होंने छायावाद को तो प्रतिष्ठित किया ही, एक सीमा तक उसके साथ प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की विकास सरणियों को समझाया। आचार्य शुक्ल की आलोचना प्रगतिवादी आलोचना में अपना विकास पाती है। किंतु आचार्य बापजेयी की आलोचना की विकास रेखा दिखाना अभी शेष है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का उल्लेख संतकाव्य परंपरा में कबीर के महत्त्व को रेखांकित करने, भक्ति काल को भारतीय चिंताधारा का स्वाभाविक विकास सिद्ध करने, मनुष्य को साहित्य का लक्ष्य मानने, लुप्तप्राय साहित्य संस्कृति की दूसरी परंपरा को खोजने, हिन्दी जाति के विद्रोही और क्रांतिकारी स्वरूप को प्रकाश में लाने के निमित्त किया गया है। संतकाव्य परंपरा भक्ति और अध्यात्म को पंडितों के एकाधिकार से मुक्त कर जनसाधारण के निकट कैसे लाती है लेखिका के अनुसार, यह दिखाना आचार्य द्विवेदी की बड़ी देन है। आज लोग भक्तिकाल को उन्हीं की दृष्टि से देखते हैं। फिर भी यह सच है कि द्विवेदी की आलोचना आचार्य शुक्ल से पूरी तरह आक्रांत हैं- कहीं प्रतिक्रिया में तो कहीं समर्थन में। डॉ० रामविलास शर्मा के बारे में लेखिका डॉ० गिरिजा राय ने चौकाते हुए हिन्दी आलोचना पर केन्द्रित अपनी इस पुस्तक के पुरोवाक् में संभवतः कुछ हड़बड़ी में ही लिख दिया है- "राम विलास शर्मा में

साहित्य की गंगोत्री है।

पुष्टि मार्ग या शुद्धाद्वैत सूर की कविता के वेदमत और वर्णाश्रम संबंधी विचारधारा तुलसी की कविता के तथा सूफी दर्शन और तसव्वुफ जायसी की कविता के बाह्य आवरण है, उपतत्व हैं जिनके भीतर लोकजीवन से जुड़ी कविता की निर्मल धारा प्रवाहित होती है। इस ओर व्याख्याताओं को ध्यान देना चाहिए। इसी उपक्रम में वह 'पृथ्वीराजरासो' में राष्ट्रीयता और जातीय अस्थिरता बोध के स्वर सुनती है, भूषण के काव्य में जातीय जीवन दृष्टि को उसके केन्द्र में लक्षित करती है। उसका अभिमत है कि 'विजय के धनी' शिवाजी और छत्रशाल एक व्यापक जनाधार के चलते महानायक बनते हैं जब कि राजपूती आन और अखड़ता के प्रतीक महाराणा प्रताप के शौर्य में राष्ट्रीयता की अनुगूंज कही नहीं सुनाई पड़ती फलतः वे किसी श्रेष्ठ कृति के चरित्र नायक नहीं बनाए जाते। भक्तिकाल की स्वच्छन्द काव्यधारा से जुड़े अकबर के दरबारी, प्रबल योद्धा, बहुभाषविद अब्दुर्रहीम खानखाना जैसे जातीय जीवन के प्रतिनिधि कवि हाशिए पर रह गए क्यों कि उन्हें कोई सहृदय समीक्षक नहीं मिला। शृंगारिकता रसमयता तथा तरल अनुभूतियों से भरा सहजता और मस्ती के साथ सामान्य आदमी के दुख-दर्द से जुड़ा रहीम का काव्य आज भी पुनर्विचार की मांग करता है। इन पर चर्चा जो हुई हैं, वह अपर्याप्त है। लेखिका की टिप्पणी है कि साहित्य को जीवन से जोड़ने का जैसा उपक्रम सिद्धों और नाथों में हैं, वैसा ही रहीम में भी है। इसी तरह अपनी जीवनचर्या भावबोध और विचारधारा सभी में थोथी सामंती कुलमर्यादा की जकड़बंदी को तोड़ने वाली, प्रेम को केन्द्रीय महत्व की चीज मानने और सिद्ध करने वाली मीरा का काव्य जो स्त्री की दीनता, विवशता एवं प्रेमाकुल हृदय की अद्भुत तन्मयता से सम्पन्न है- आलोचना में हाशिए पर ही रहा है। लेखिका के अनुसार जनता से जुड़ें साहित्य को, उपसाहित्य कहने से साहित्य की मुख्यधारा धुंधलाती है। साहित्य की इस दूसरी परंपरा के मूल्यांकन के लिए आलोचना का नया शास्त्र गढ़ना होगा।

'उर्दू परंपरा और प्रेमचंद' शीर्षक निबंध में लेखिका यह तो औरों की तरह ही स्वीकार करती है कि प्रेमचंद असाधारण महत्त्व के ऐसे कथाकार हैं जिन्हें गरीबी के अर्थशास्त्र की गहरी समझ है। उनमें जनपक्षधरता आर्थिक विषमता से उत्पन्न अमानवीय स्थितियों के चित्रण की गजब की क्षमता है, किसान आंदोलन, दलित आंदोलन आदि का प्रभाव-यह सब कुछ है पर इसी के साथ यह भी सच है कि वे मूलतः कहानीकार है और स्थायी महत्त्व के हैं। उनके उपन्यासों में बहुत बिखराव एवं अन्विति का अभाव है। उनके उपन्यास ऐतिहासिक दस्तावेज से हैं जिनमें समसामयिक समस्याएँ सतह पर तैरती हैं।

'हिन्दी आलोचना का विकास' में लेखिका का मानना है कि हिन्दी आलोचना का मूल स्वरूप कवितावादी रहा है और गद्य विधाओं की स्थिति दोयम दर्जे की रही है। वह हिन्दी आलोचना के विकास की सीधी-सादी डगर से जुड़े महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, पदमसिंह शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नंददुलारे बाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामविलास शर्मा, नामवर सिह, विजयदेव नारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी के अवदान का साफ सुथरे ढंग से मूल्यांकन करती है। इस मूल्यांकन में वह महावीर प्रसाद द्विवेदी का स्मरण आधुनिक चेतना के ऐसे पुरोधा के रूप में करती हैं जिन्होंने हिन्दी आलोचना में आचार्य शुक्ल के लिए जमीन तैयार की। शुक्ल जी का स्मरण वह हिन्दी आलोचना को रीतिवादी जकड़बंदी से मुक्त करने और साहित्य में लोक की प्रतिष्ठा के निमित्त करती है। रस की अभिनव व्याख्या हो, साधारणीकरण का महत्त्व प्रतिपादन हो, लोकोन्मुख दृष्टि से सामाजिक राजनीतिक प्रभावों के संदर्भ में हिन्दी साहित्य का लेखन हो या मनोभावों की व्याख्या हो- सर्वत्र शुक्ल जी लोकोत्तरता, व्यक्ति वैचित्र्यवाद, कलावाद को निरस्त करते हुए, विरूद्धों का सामंजस्य घटित करते हुए कर्म, शील और शक्ति कै सौन्दर्य को समेटते हैं। सौन्दर्य और रस को आनंद की स्थिति से उठाकर सदाचरण की यथार्थ जमीन पर प्रतिष्ठित करते हैं। आचार्य नंददुलारे बाजपेयी लेखिका के अनुसार आचार्य शुक्ल के चिंतन के पूरक के रूप में उभरते हैं जिन्होंने छायावाद को तो प्रतिष्ठित किया ही, एक सीमा तक उसके साथ प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की विकास सरणियों को समझाया। आचार्य शुक्ल की आलोचना प्रगतिवादी आलोचना में अपना विकास पाती है। कितु आचार्य बापजेयी की आलोचना की विकास रेखा दिखाना अभी शेष है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का उल्लेख संतकाव्य परंपरा में कबीर के महत्त्व को रेखांकित करने, भक्ति काल को भारतीय चिंताधारा का स्वाभाविक विकास सिद्ध करने, मनुष्य को साहित्य का लक्ष्य मानने, लुप्तप्राय साहित्य संस्कृति की दूसरी परंपरा को खोजने, हिन्दी जाति के विद्रोही और क्रांतिकारी स्वरूप को प्रकाश में लाने के निमित्त किया गया है। संतकाव्य परंपरा भक्ति और अध्यात्म को पंडितों के एकाधिकार से मुक्त कर जनसाधारण के निकट कैसे लाती है लेखिका के अनुसार, यह दिखाना आचार्य द्विवेदी की बड़ी देन है। आज लोग भक्तिकाल को उन्हीं की दृष्टि से देखते हैं। फिर भी यह सच है कि द्विवेदी की आलोचना आचार्य शुक्ल से पूरी तरह आक्रांत हैं- कहीं प्रतिक्रिया में तो कहीं समर्थन में। डॉ० रामविलास शर्मा के बारे में लेखिका डॉ० गिरिजा राय ने चौकाते हुए हिन्दी आलोचना पर केन्द्रित अपनी इस पुस्तक के पुरोवाक् में संभवतः कुछ हड़बड़ी में ही लिख दिया है- "राम विलास शर्मा में

वायवीयता और अटकल ज्यादा है जिससे उनकी आलोचना में स्फीति और अनावश्यक फैलाव है। सैद्धांतिक कट्टरता भी बहुत है।" पुस्तक में डॉ० शर्मा की आलोचना पर लिखती हुई लेखिका ऐसा कुछ भी निर्दिष्ट नहीं कर सकी है। वह मानती है कि डॉ० शर्मा आचार्य शुक्ल की आलोचना को गति देते हैं और पुनर्जागरण की चेतना तथा जातीय अस्मिता से प्रेरणा ग्रहण करते हुए सामंतवाद के प्रतिपक्ष में प्रेमचंद, अचार्य शुक्ल और निराला को खड़ा देखते हैं।

डॉ० राय का ध्यान इस ओर भी गया है कि जिस तरह से छायावादी कवि अपने समय के समीक्षकों से असंतुष्ट होकर अपनी समीक्षा से स्वयं जुड़ गए थे वैसे ही आगे चलकर दिनकर अज्ञेय,मुक्तिबोध, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, अशोक बाजपेयी, साही, राजेन्द्र यादव, दूधनाथ सिंह ने रचना के साथ आलोचना में भी अपने को अभ्यस्त दिखाया। इनमें अज्ञेय, मुक्तिबोध और साही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मिश्र बंधुओं की परंपरा में उन्होंने लक्षित किया है कि यदि अज्ञेय केशवदास की प्रयोगशीलता पर रीझते हैं, रीति काव्य के मर्मज्ञ डॉ० जगदीश गुप्त नई कविता के शिल्पवादी आग्रहों से जुड़ते हैं या कि राम स्वरूप चतुर्वेदी को रत्नाकर की कविता ज्यादा प्रिय लगती है- तो यह मिश्रबंधुओं की परंपरा का ही नयों के सिर पर चढ़कर बोलना है।

बकौल डॉ० राय अज्ञेय की पहचान हिन्दी आलोचना में अपनी कविताओं के साथ समकालीनों की कविताओं का मर्म पाने के लिए नई संवेदना की मांग करने वालों में विशिष्ट हैं। टी०एस० इलिएट से डॉ० देवराज ने क्लैसिक्स के प्रति आग्रह और सांस्कृतिक चिंता की प्रशिक्षा पाई वहीं निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त के प्रति अज्ञेय ने और गैर रूमानियत के प्रति मुक्तिबोध ने अपनी पक्षधरता दिखाई। भाषा और संप्रेषण की समस्या से जूझने में अज्ञेय सुख पाते रहे हैं। मुक्तिबोध काव्य की रचना प्रक्रिया के विश्लेषण और कामायनी पर पुनर्विचार के लिए जाने जाते हैं। लघुमानव की कल्पना इन्हें जनता का अपमान लगती है। नई कविता के रूमानीयत का इन्होंने प्रत्येक स्तर पर विरोध किया, प्रगतिशील आलोचकों की सीमाएँ दिखाई, उर्वशी की भाषा का पोलापन दिखाया। विजयदेव नारायण साही पर डॉ० राय ने बहुत सुविचारित ढंग से लगभग २९ पृष्ठों में डूबकर सतर्क लिखा है। यह अंश इस पुस्तक की बहुमूल्य उपलब्धि है। वे लिखती है कि कवि समीक्षक और असमानांतर महत्त्व के चिंतक साही ने जीवन और साहित्य से जुड़े सांस्कृतिक और राजनीतिक रिश्ते को साहित्य और साहित्यकार का दायित्व 'छठवां दशक' आदि में उठाया है। उनके मरने के बहुत बाद उनकी कृतियों का प्रकाशित होना हिन्दी की मरी हुई मानसिकता का प्रतीक है। साही साहित्य पर पड़ने वाले

पत्र-विशेष

भगवतीचरण वर्मा विशेषांक

श्री विवेक सत्यांशु

'हिन्दुस्तानी' ने अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषांक निकाले हैं। इसी त्रयी में "श्री भगवतीचरण वर्मा जन्मशती विशेषांक" का भी प्रकाशन हुआ है। (अंक-६४, अक्टूबर-दिसम्बर सन् २००३) हिन्दुस्तानी के इस विशेषांक में भगवती बाबू का समग्र रूप से मूल्यांकन एवं पुनर्मूल्यांकन करने की कोशिश की गयी है। भगवती बाबू ने अपनी सृजन यात्रा की शुरुआत कविता से ही की थी। इस विशेषांक में भी उनके कवि रूप की ही ज्यादा चर्चा है। इनके कवि व्यक्तित्व पर अनेक लेख है। किन्तु अन्य विधाओं पर जो सर्जना इन्होनें की है, उस पर भी इस अंक में लेख हैं, जिनकी अपेक्षाकृत चर्चा कम होती है। जैसे इनके नाटकों की चर्चा कम होती है, कहानियों की चर्चा कम होती है। इस अंक में इन रचनाओं पर भी पर्याप्त मूल्यांकन है। यह अंक इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें भगवती बाबू के परिचय के साथ इनकी सभी प्रकाशित कृतियों का भी विवरण दिया है, जो शोध की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। संपादकीय में श्री हरिमोहन मालवीय ने लिखा है कि "कविता की सभी आधुनिक काव्यधाराओं का आस्वाद प्राप्त करने वाले वर्मा जी मधुकाव्य परम्परा से भी जुड़े रहे और मस्ती का आलम भी इन्हें कुछ काल तक घेरे रहा।" एक समय भगवती बाबू की यह कविता बहुत चर्चित रही-

हम दीवानों की क्या हस्ती,
आज यहाँ कल कहाँ चले
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले।

इस प्रसिद्ध कविता में कवि का फक्कड़पन, मस्ती पूरी ऊर्जा के साथ संप्रेषित हुई है।

इस विशेषांक का प्रथम लेख 'भगवतीचरण वर्मा का काव्य' डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का है। इन्होंने उनकी कविताओं की चर्चा से पहले यह लिखा है- "भगवतीचरण वर्मा के सम्पूर्ण काव्य से बल्कि कहूँ कि सम्पूर्ण लेखन से जो गूँज निकलती है वह है अस्तित्व की जिज्ञासा।" जीवन क्या है?, अस्तित्व का रहस्य मात्र है, जीवन का उद्देश्य क्या है?, सत्य क्या है?, जैसे गंभीर दार्शनिक प्रश्न उन्हें कहीं न कहीं से मथते रहते हैं, जिन्हें सुलझाने की कोशिश उनकी अभिव्यक्तियों में दिखायी पड़ती है।

वायवीयता और अटकल ज्यादा है जिससे उनकी आलोचना में स्फीति और अनावश्यक फैलाव है। सैद्धांतिक कट्टरता भी बहुत है।" पुस्तक में डॉ० शर्मा की आलोचना पर लिखती हुई लेखिका ऐसा कुछ भी निर्दिष्ट नहीं कर सकी है। वह मानती है कि डॉ० शर्मा आचार्य शुक्ल की आलोचना को गति देते हैं और पुनर्जागरण की चेतना तथा जातीय अस्मिता से प्रेरणा ग्रहण करते हुए सामंतवाद के प्रतिपक्ष में प्रेमचंद, अचार्य शुक्ल और निराला को खड़ा देखते हैं।

डॉ० राय का ध्यान इस ओर भी गया है कि जिस तरह से छायावादी कवि अपने समय के समीक्षकों से असंतुष्ट होकर अपनी समीक्षा से स्वयं जुड़ गए थे वैसे ही आगे चलकर दिनकर अज्ञेय,मुक्तिबोध, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, अशोक बाजपेयी, साही, राजेन्द्र यादव, दूधनाथ सिंह ने रचना के साथ आलोचना में भी अपने को अभ्यस्त दिखाया। इनमें अज्ञेय, मुक्तिबोध और साही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मिश्र बंधुओं की परंपरा में उन्होंने लक्षित किया है कि यदि अज्ञेय केशवदास की प्रयोगशीलता पर रीझते हैं, रीति काव्य के मर्मज्ञ डॉ० जगदीश गुप्त नई कविता के शिल्पवादी आग्रहों से जुड़ते हैं या कि राम स्वरूप चतुर्वेदी को रत्नाकर की कविता ज्यादा प्रिय लगती है- तो यह मिश्रबंधुओं की परंपरा का ही नयों के सिर पर चढ़कर बोलना है।

बकौल डॉ० राय अज्ञेय की पहचान हिन्दी आलोचना में अपनी कविताओं के साथ समकालीनों की कविताओं का मर्म पाने के लिए नई संवेदना की मांग करने वालों में विशिष्ट हैं। टी०एस० इलिएट से डॉ० देवराज ने क्लैसिक्स के प्रति आग्रह और सांस्कृतिक चिंता की प्रशिक्षा पाई वहीं निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त के प्रति अज्ञेय ने और गैर रूमानियत के प्रति मुक्तिबोध ने अपनी पक्षधरता दिखाई। भाषा और संप्रेषण की समस्या से जूझने में अज्ञेय सुख पाते रहे हैं। मुक्तिबोध काव्य की रचना प्रक्रिया के विश्लेषण और कामायनी पर पुनर्विचार के लिए जाने जाते हैं। लघुमानव की कल्पना इन्हें जनता का अपमान लगती है। नई कविता के रूमानीयत का इन्होंने प्रत्येक स्तर पर विरोध किया, प्रगतिशील आलोचकों की सीमाएँ दिखाई, उर्वशी की भाषा का पोलापन दिखाया। विजयदेव नारायण साही पर डॉ० राय ने बहुत सुविचारित ढंग से लगभग २९ पृष्ठों में डूबकर सतर्क लिखा है। यह अंश इस पुस्तक की बहुमूल्य उपलब्धि है। वे लिखती है कि कवि समीक्षक और असमानांतर महत्त्व के चिंतक साही ने जीवन और साहित्य से जुड़े सांस्कृतिक और राजनीतिक रिश्ते को साहित्य और साहित्यकार का दायित्व 'छठवां दशक' आदि में उठाया है। उनके मरने के बहुत बाद उनकी कृतियों का प्रकाशित होना हिन्दी की मरी हुई मानसिकता का प्रतीक है। साही साहित्य पर पड़ने वाले

राजनीतिक दबाव के खिलाफ लगातार जूझते हैं तथा जातीय अस्मिता और सांस्कृतिक स्पर्श को बड़े प्यारे ढंग से साहित्य में उभारते हैं। नामवर सिंह की पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' का शीर्षक उन्हीं के लेख पर आधारित है और डॉ० सिंह स्वयं अनेक बार इसमें उन्हें उदधृत कर कृतकृत्य होते हैं। अद्भुत सहृदयता और दृष्टि सम्पन्नता के साथ साही ने जायसी और उनके 'पद्मावत' को सूची भी दर्शन से बाहर निकालकर उनमें वह सब बेशकीमती ढूंढा है जिसे जायसी के पहले आलोचक न ढूंढ पाए थे। डॉ० राय छायावाद, प्रगतिवाद प्रयोगवाद पर की गई साही की टिप्पणियों को अपनी आलोचना में यथास्थान मौजूं ढंग से उपस्थित कर सही निष्कर्ष तक पहुँचती हैं। साही किस तरह भाषा और संस्कृति के रिश्ते की छान बीन करते हैं, तहों वाली भाषा से अपना विरोध दर्शाते हैं, काव्यभाषा के सही रूप को पाने के लिए तड़पते हैं ओर अंग्रेजी भाषा और साहित्य विषयक अपने गहन बोध का उपयोग करते हुए यह दिखाते हैं कि हिन्दी वाक्यों के बीच में अंग्रेजी शब्द कहाँ-कहाँ कुछ जोड़ते नहीं बल्कि अवरोध ही खड़ा करते हैं।

डॉ० नामवर सिंह को गिरिजा राय साही का मार्क्सवादी संस्करण कहती हैं और बताती हैं कि साही की पहचान बनाने और उनका साथ देने से नामवर सिंह का भी कद बढ़ा है। 'नए प्रतिमान' के केन्द्र में मुक्तिबोध हैं पर उन्हीं के साथ उनके आस-पास के कवियों के क्रवित्व को भी नामवर सिंह रुचि लेकर खोलते हैं, दूसरी विधाओं के लिए उनके पास अवसर कम है। नामवर में गिरिजा राय साही की अखण्ड दृष्टि नहीं पाती। निर्मल वर्मा से लेकर विनोद कुमार शुक्ल तक ने उनसे तारीफ पाई। उनकी आलोचना में सामाजिक चेतना के संदर्भ भी हैं और भाषिक संरचना की बारीकियों का विश्लेषण भी। हिन्दी साहित्य के विविध वादों पर उन्होंने लिखा। नई कहानी के कहानीकारों की पहचान बनाई। 'उर्वशी' के संदर्भ में बताया कि काव्यभाषा संबंधी प्रतिमान भी व्यक्तिगत रुचि द्वारा पोषित हैं। डॉ० गिरिजा राय के अनुसार यह सब कुछ करने वाले नामवर सिंह अन्ततः आधुनिकता और रूमानी चेतना में अर्थ नहीं कर सके। रामस्वरूप चतुर्वेदी की आलोचना को पहचान अज्ञेय व्यक्तित्व के प्रकाशन, 'कामायनी के पुनर्मूल्याकन', हिंदीभाषा और संवेदना की विकास-यात्रा की पड़ताल और आचार्य शुक्ल के इतिहास की पुर्नव्याख्या से मिली। काव्य भाषा संबंधी प्रतिमान को लेकर चलने वाले वे हिन्दी के इकलौते आलोचक हैं जिनकी आलोचना के केन्द्र में कविता है। इसी क्रम में डॉ० राय लक्ष्मीकांत वर्मा, अशोक वाजपेयी, राजेन्द्र यादव, दूधनाथ सिंह से लेकर सत्य प्रकाश मिश्र तक की आलोचनात्मक उपलब्धियों को अपने विवेचन का विषय बनाकर अपनी इस कृति को हिन्दी आलोचना की अधावधि तक की गतिविधियों

की जांच-पड़ताल करने वाली एक संपूर्ण पुस्तक बना देती हैं।

उस पुस्तक के दूसरे खण्ड में वे काव्यभाषा के अन्तर्गत भाषा और काव्य भाषा के अंतर को स्पष्ट करते हुए घोषित करती हैं कि कविता के प्रतिमानों से कथा साहित्य की आलोचना संभव नहीं। आधुनिकता की दौड़ में कविता लड़खड़ाती है, उपन्यास नहीं। भाषा और संस्कृत के अटूट रिश्ते को उन्होंने विस्तार से समझाया है। 'साहित्य का समाजशास्त्री' में उस आलोचना पद्धति का इतिहास भूगोल बताते हुए समाजशास्त्री आलोचना से इसके अंतर को वे स्पष्ट करती है। 'उपन्यास का समाजशास्त्र' में उद्योगीकरण से उपन्यास के रिश्ते को बेखूबी समझाती हैं और सतर्क स्थापित करती हैं पूंजीवाद के जटिल ढाँचे से जन्मे तनाव को उपन्यास ही ढो सकता है, कविता नहीं। अजनबीपन को वे पूँजीवादी सभ्यता की अनिवार्य विकृति मानती हैं, जहाँ श्रमिक अपने श्रम के फल से और मनुष्य अपनी मुनष्यता से वंचित होकर धनलोलुपता का शिकार हो जाता है। सबसे अंत में अपने खुद के आलोचनात्मक विवेक का परीक्षण वे आरंभ में उल्लिखित उपन्यासों की कसौटी पर करती हैं।

डॉ० गिरिजा राय की यह पुस्तक हिन्दी आलोचना की उनकी सम्यक समझ का तो प्रमाण देती ही है, साथ ही हिन्दी के प्रमुख आलोचकों की आलोचनाओं में रह गई फांक को भी निर्दिष्ट करती है। यह हिन्दी के आलोचकों को आलोचनार्थ कुछ विशिष्ट विषय भी देती है और आलोचना की नई सरणियों से संवाद भी बनाती है।

❑

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी,

पत्र-विशेष

भगवतीचरण वर्मा विशेषांक

श्री विवेक सत्यांशु

'हिन्दुस्तानी' ने अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषांक निकाले हैं। इसी त्रयी में "श्री भगवतीचरण वर्मा जन्मशती विशेषांक" का भी प्रकाशन हुआ है। (अंक-६४, अक्टूबर-दिसम्बर सन् २००३) हिन्दुस्तानी के इस विशेषांक में भगवती बाबू का समग्र रूप से मूल्यांकन एवं पुनर्मूल्यांकन करने की कोशिश की गयी है। भगवती बाबू ने अपनी सृजन यात्रा की शुरुआत कविता से ही की थी। इस विशेषांक में भी उनके कवि रूप की ही ज्यादा चर्चा है। इनके कवि व्यक्तित्व पर अनेक लेख है। किन्तु अन्य विधाओं पर जो सर्जना इन्होनें की है, उस पर भी इस अंक में लेख हैं, जिनकी अपेक्षाकृत चर्चा कम होती है। जैसे इनके नाटकों की चर्चा कम होती है, कहानियों की चर्चा कम होती है। इस अंक में इन रचनाओं पर भी पर्याप्त मूल्यांकन है। यह अंक इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें भगवती बाबू के परिचय के साथ इनकी सभी प्रकाशित कृतियों का भी विवरण दिया है, जो शोध की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। संपादकीय में श्री हरिमोहन मालवीय ने लिखा है कि "कविता की सभी आधुनिक काव्यधाराओं का आसाद प्राप्त करने वाले वर्मा जी मधुकाव्य परम्परा से भी जुड़े रहे और मस्ती का आलम भी इन्हें कुछ काल तक घेरे रहा।" एक समय भगवती बाबू की यह कविता बहुत चर्चित रही-

हम दीवानों की क्या हस्ती,
आज यहाँ कल कहाँ चले
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले।

इस प्रसिद्ध कविता में कवि का फक्कड़पन, मस्ती पूरी ऊर्जा के साथ संप्रेषित हुई है।

इस विशेषांक का प्रथम लेख 'भगवतीचरण वर्मा का काव्य' डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का है। इन्होंने उनकी कविताओं की चर्चा से पहले यह लिखा है- "भगवतीचरण वर्मा के सम्पूर्ण काव्य से बल्कि कहूँ कि सम्पूर्ण लेखन से जो गूँज निकलती है वह है अस्तित्व की जिज्ञासा।" जीवन क्या है?, अस्तित्व का रहस्य मात्र है, जीवन का उद्देश्य क्या है?, सत्य क्या है?, जैसे गंभीर दार्शनिक प्रश्न उन्हें कहीं न कहीं से मथते रहते हैं, जिन्हें सुलझाने की कोशिश उनकी अभिव्यक्तियों में दिखायी पड़ती है।

तिवारी जी ने इस संदर्भ में भगवती बाबू की इस कविता को रेखांकित किया है-

'मैं पूछ रहा हूँ पागल सा
मैं क्या हूँ? क्या अस्तित्व यहाँ?
यह बनना और बिगड़ना क्या?
क्या है खोना?, क्या है पाना?
यह दूर क्षितिज धुंधला अशान्त
देता है जैसा मेरा मन
वह बोझिल सा काँपता पवन'

भगवती बाबू की कविताओं में प्रगतिशील दृष्टि का भी जीवंत रूप मिलता है-

'इस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से हैं, उठे हुये कुछ कच्चे घर
पशुवन कर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं
गुलाम पैदा होना फिर मर जाना, बस यह लोगों का एक काम
धन की दानवता से पीड़ित कुछ फटा हुआ
कर्कश स्वर, चरमर-चरमर, चूं चरर मरर
जा रही चली भैसां गाड़ी'

भगवती बाबू के कथाकार व्यक्तित्व के बारे में डॉ० रामकिशोर शर्मा ने लिखा है- "वर्मा जी रस व्यंजक कथाकार हैं। जीवन के विविध क्षेत्रों घटनाओं चरित्रों को चुनकर के इनका ऐसा रोचक विन्यास करते हैं कि पाठक निरन्तर डूबता जाता है।" इन सबके बावजूद वे एक श्रेष्ठ कथाकार के रूप में हिन्दी जगत में प्रतिष्ठित हुये हैं।

भगवतीचरण वर्मा के नाटककार व्यक्तित्व के संदर्भ में डॉ० प्रेमलता ने लिखा है- "जीवन में जितना विकृत है, अराजक है, अनैतिक है इसके प्रति तिरस्कार और जितना सुन्दर है, सार्थक है, नैतिक और उदात्त है इसके प्रति आस्था इस लक्ष्य के तहत वर्मा जी जैसे रचनाकार अपने नाटकों के शिल्प और संवेदना को तरासते चलते हैं।"

अंत में यह कहा जा सकता है कि भगवतीचरण वर्मा का 'हिन्दुस्तानी' ने न केवल समग्र रूप में यह विशेषांक निकालकर मूल्यांकन किया है बल्कि उनके रचनाकार व्यक्तित्व के विविध आयामों का भी विस्तार से इसमें वर्णन मिलता है।

❑

ब्लाक नं०१४, फ्लैट नं० १२
शिवनगर कालोनी
अल्लापुर, इलाहाबाद-६

पत्र-प्रतिक्रियाएं

- इलाचन्द्र जोशी पर विशेषांक अंक-३, सन् २००२ अच्छा लगा। इस तरह के अंक संग्रह करने योग्य होते हैं।

डॉ० शशिकला त्रिपाठी
वाराणसी

- रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय की लायब्रेरी में इलाचन्द्र जोशी जी पर समर्पित अंक, अंक-३, सन् २००२ देखने का सौभाग्य हुआ, खुशी हुई।

डॉ० एल० एन० पचोरी
मोतीझील एवन्यू, कोलकाता

- पं० इलाचन्द्र जोशी जन्मशती विशेषांक मिला। अंक उच्चस्तरीय और अविस्मरणीय है।

वासंती सालवेकर
चन्द्रप्रभा कालोनी,
जलगांव

- इलाचन्द्र जोशी विशेषांक मिला। मनोयोगपूर्वक पढ़ गया। हिन्दी साहित्य के प्रेमी पाठक इस अंक को पाकर धन्य ही हुये हैं, जोशी जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को अत्यन्त प्रामाणिक ढ़ंग से स्मरण किया गया है। उनके बहुआयामी कृतित्व को इस अंक में आपने प्रस्तुत किया जो पठनीय ही नहीं संग्रहणीय भी है। समकालीनों के पत्राचार उपयोगी हैं। श्री सुशील राकेश का लेख जोशी जी पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलेख है। इस महत्त्वपूर्ण विशेषांक के लिये साधुवाद।

डॉ० राम प्रसाद
जोधपुर, राजस्थान

- जनवरी-मार्च २००३ अंक मिला। सामग्री उच्चस्तर की है। 'दक्खिनी हिन्दी का गद्य-रमल नजूमी शास्त्र' आलेख रोचक और नवीन जानकारी से पूर्ण है। 'भारत की महान विभूति अमीर खुसरो' और 'जायसीकृत पद्मावत का बंगला अनुवाद' आलेख अपनी विषयवस्तु की दृष्टि से उल्लेखनीय है। महाश्वेता देवी के कुछ पत्र अत्यन्त रोचक लगे। मीनू रानी

कविताएं अच्छी लगीं।

डॉ० किश्वार सुल्ताना
रामपुर

। आलेख समीक्षा एवं कवितायें सभी
ो कवितायें गहरा असर छोड़ती हैं।
कमल राय ने बड़ा सार्थक आलेख
आलेख देकर अच्छा प्रयास किया।
सज्जा सामग्री-चयन में नया स्तर
इ।

श्रीरंग
(प्रीतमनगर कालोनी)
इलाहाबाद

र्मा जन्मशती विशेषांक प्राप्त हुआ
की निश्चित योजना के श्रम, लगन
ता है। वर्मा जी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व
दृष्टि खुलती दिखाई देती है। डॉ०
दीक्षित, डॉ० सुरेन्द्र वर्मा, कमलेश
आलेखों के साथ सम्पादकीय भी
र्मा जी की स्थापना के मानक बने

डॉ० ओमप्रकाश सिंह
लालगंज, रायबरेली

तकालय (हिन्दी प्रचार सभा) में
सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व की
कुमार और प्रो० विश्वनाथ तिवारी

कुन्दन लाल सहगल
मुम्बई